

You deserve the best..

I
A
S



P
C
S

Committed to Excellence

M.D.:Niraj Singh ISO 9001 Certified



IAS/ PCS एवं अन्य प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए उपयोगी

BOOK REVIEW

(Jan. - Sept. 2017)

 : 011-27658013, 7042772062/63

H.O. : 705, IInd Floor, Main Road, Mukherjee Nagar, Delhi-09 !! Class Venue : Vardhman Plaza, Nehru Vihar

 <http://www.gsworldias.com>  <http://www.facebook.com/gsworld1>  gsworldias@gmail.com

9654349902

You deserve the best...

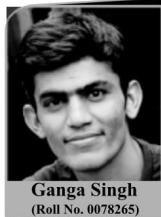
I
A
S



P
C
S

Committed to Excellence

IAS-2016 में चयनित GS World के छात्रों को हार्दिक शुभकामनाएं...



Ganga Singh
(Roll No. 0078265)

Rank 33rd



Hemant Sati
(Roll No. 0441143)

Rank 88th



Dhawal Jaiswal
(Roll No. 0807519)

Rank 445th



Ashutosh Kr. Rai
(Roll No. 0576755)

Rank 500th

And Many More...

INDEX

• हाउ पोपुलेशन चेंज...	सारा हार्पर	1
• एन ऐरा ऑफ डार्कनैस...	सीपी चंद्रशेखर	5
• च्वाइसेज : इनसाइड दि मेकिंग...	शिवशंकर मेनन	9
• फिरोज द् फॉरगोटन गांधी	बर्टिल फल्क	13
• पाकिस्तान : कोर्टिंग द एबिस	तिलक देवासर	17
• द् बर्निंग फॉरेस्ट : इंडियाज बार...	नंदिनी सुंदर	20
• ब्लैक इकोनॉमी एंड ब्लैक मनी...	अरुण कुमार	23
• एज ऑफ एंगर : हिस्टरी ऑफ...	पंकज मिश्रा	26
• ड्रैगन ऑन आवर डोर स्टोप...	प्रवीर सोनी, गजला वहाब	29
• इंटरप्रेटिंग दि वर्ल्ड टू चेंज इट	सीपी चंद्रशेखर	33
• पुतिन्स मास्टर प्लांस...	डगलस ई. सोहेन	37
• द् क्रुक्ड माइंड...	किरन कार्निक, रूपा	41
• द् ब्रोकेन लैडर...	अनिरुद्ध कृष्णा	45
• डॉयलोग ऑफ दि डैफ...	टी.सी.ए.राघवन	49
• चाइनाज इकोनॉमी...	आर्थर आर. क्रोबर	53
• द् त्रिशंकू नेशन	दीपक कुमार	57
• ब्लड एंड सिल्क	माइकल वातिकियोतिस	61
• इंदिरा गांधी	जयराम रमेश और सागरिका घोष	65

DELHI CENTRE

705, 2nd Floor, Main Road,
Mukherjee Nagar, Delhi-110009
Ph.: 011-27658013, 7042772062/63

ALLAHABAD CENTRE

GS World House, Stainly Road,
Near Traffic Choraha, Allahabad
Ph.: 0532-2266079, 8726027579

LUCKNOW CENTRE

A-7, Sector-J, Puraniya Chauraha
Aliganj, Lucknow
Ph.: 0522-4003197, 8756450894

JAIPUR CENTRE

Hindaun Heights 57, Shri Gopal Ngr,
Near Mahesh Ngr Police Station,
Jaipur Ph.: 9610577789, 9680023570

<http://www.gsworldias.com> || <http://facebook.com/gsworld1> ||

9654349902



प्रो. पुष्पेश पंत

संसार के लगभग 200 देशों का वर्गीकरण कई अलग-अलग प्रकार से किया जा सकता है और किया जाता रहा है। प्रमुखतः इन्हें भौगोलिक आकार या आबादी के आधार पर 'बड़ा' या 'छोटा', अपेक्षाकृत 'अधिक' या 'कम' महत्वपूर्ण माना जाता है। कुछ अपवाद हैं, जो भू-राजनैतिक स्थिति के कारण पारंपरिक रूप से सामरिक दृष्टि से संवेदनशील समझे जाते रहे हैं और आकार या आबादी में सूक्ष्म होने के बावजूद अंतर्राष्ट्रीय शक्ति समीकरणों को संतुलित करने में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। यूरोप के इतिहास के उतार-चढ़ाव के बावजूद कुछ देश हैं, जिन्होंने अपनी हस्ती बरकरार रखी है जिस वजह से उनका शुमार बड़ी शक्तियों में होता है। 19वीं सदी में ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी (प्रशा तथा ऑस्ट्रिया के एकीकरण के बाद), रूस इस सूची में शुमार होते थे। यह याद रखने लायक है कि रूस को छोड़ इनमें किसी का आकार विश्व स्तर पर विशाल नहीं है और न ही इनकी आबादी की तुलना चीन, भारत या इंडोनेशिया से की जा सकती है। इससे पहले वाले दौर में स्पेन और पुर्तगाल ने इंग्लैंड के साथ औपनिवेशिक अन्वेषण के दौर में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। लातीनी अमेरिका, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलेशिया की 'खोज' और वहां उपनिवेश स्थापित कर अपने साम्राज्य की स्थापना करने वाले इन गोरे देशों की आबादी या आकार ने नहीं बल्कि उनके तकनीकी कौशल ने उन्हें स्थानीय निवासियों पर विजय सुनिश्चित करने में मदद दी थी।

हाउ पोपुलेशन चेंज विल ट्रांसफार्म आवर वर्ल्ड

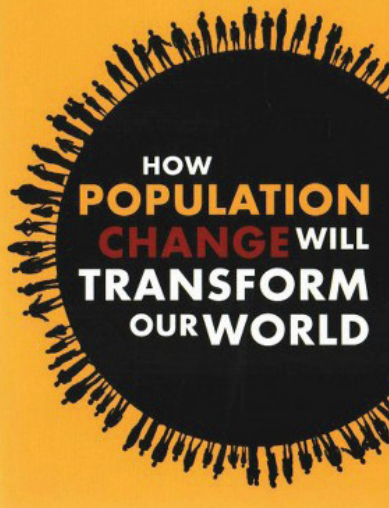
लेखक: सारा हार्पर

18वीं सदी के अंत तक यह स्थिति बदलने लगी थी। उत्तरी अमेरिका में ब्रिटेन के गोरे उपनिवेशों -अमेरिका और कनाडा- ने आदिवासियों का वंशनाशक सफाया कर विस्तृत भूभाग पर कब्जा कर लिया था। यहां के प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार ने उन्हें असाधारण रूप से संपन्न बना दिया था। औद्योगिक विकास के लिए उन्हें अपनी सीमा के बाहर किसी उपनिवेश की स्थापना -वहां से कच्चे माल के आयात और वहां अपने उत्पादों के निर्यात की मजबूरी नहीं थी। इस 'नई दुनिया' ने बीसवीं सदी के पहले चरण तक खुद को पुरानी दुनिया के सत्ता संघर्षों से और औपनिवेशिक मुठभेड़ों से अलग रखने का प्रयास किया और इसी कारण यह भ्रांति बनी रह सकी कि ब्रिटेन जैसा छोटा द्वीप दुनिया की सबसे बड़ी हस्ती है जिसके साम्राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता। यहां यह रेखांकित करने की जरूरत है

कि भले ही ब्रिटेन की अपनी आबादी नगण्य थी, उपनिवेशों के दासों की संख्या का बल उसे सुलभ था। बंधुवा मजदूरों से ले कर बलि के बकरे सैनिकों के रूप में इस्तेमाल करने के लिए। दूसरे शब्दों में जनसंख्या का महत्व इस दौर में भी कम नहीं था।

इस भूमिका को विषयांतर न समझा जाए। आबादी का वैज्ञानिक अध्ययन जनगणना से कहीं जटिल और परिष्कृत विषय है। आबादी में लिंगानुपात हो या उसकी जन्म-मृत्यु दर के आंकड़े इसकी सेहत और शैक्षिक योग्यता के साथ इसकी क्षमता को तय करते हैं। किसी देश की आबादी का कितना हिस्सा युवा है और कितना बूढ़ा यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं। यही अनुपात तय करता है कि उत्पादक श्रमिकों की तादाद अधिक है या उन पर निर्भर बूढ़े बीमारों की। हाल के वर्षों में 'डिमोग्रैफी' भूगोल और अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों की ही नहीं, राजनीति तथा जीव विज्ञान जैसे विभिन्न विषयों के अध्येताओं की दिलचस्पी का विषय बन चुका है। यह पुस्तक ऑक्सफोर्ड विश्व विद्यालय के ऐसे ही एक अंतर-अनुशासनी शोध केन्द्र में किए जा रहे सहयोगी शोध की अंतरिम प्रस्तुति है। मालथस एक ऐसे अर्थशास्त्री थे जिन्होंने 19वीं सदी में यह निराशाजनक भविष्यवाणी की थी कि दुनिया की आबादी जिस तेजी से बढ़ रही है, उससे यह गंभीर संकट पैदा हो गया है कि धरती इस बढ़ी आबादी के भरण पोषण का भार नहीं ढो सकेगी। संसाधनों और आबादी के संतुलन को बनाए रखने के लिए महामारी, अकाल आदि प्राकृतिक माध्यमों के अलावा महायुद्ध जनित नरसंहार देखने को मिलेंगे। मालथस ने यह कल्पना नहीं की थी कि विज्ञान की निरंतर प्रगति धरती की इस भरण-पोषण

SARAH HARPER



क्षमता को कई गुना बढ़ा सकती है और महामारी का आतंक आधुनिक चिकित्सा पद्धति और प्राण रक्षक औषधियों के आविष्कार के बाद कम से कम विकसित देशों में पूर्णतः समाप्त हो चुका है। नवजात शिशुओं की मृत्यु दर में सभी जगह गिरावट आई है और औसत आयु में बढ़त ने भी मालथस के सिद्धांत को पौराणिक किवदंती बना दिया है।

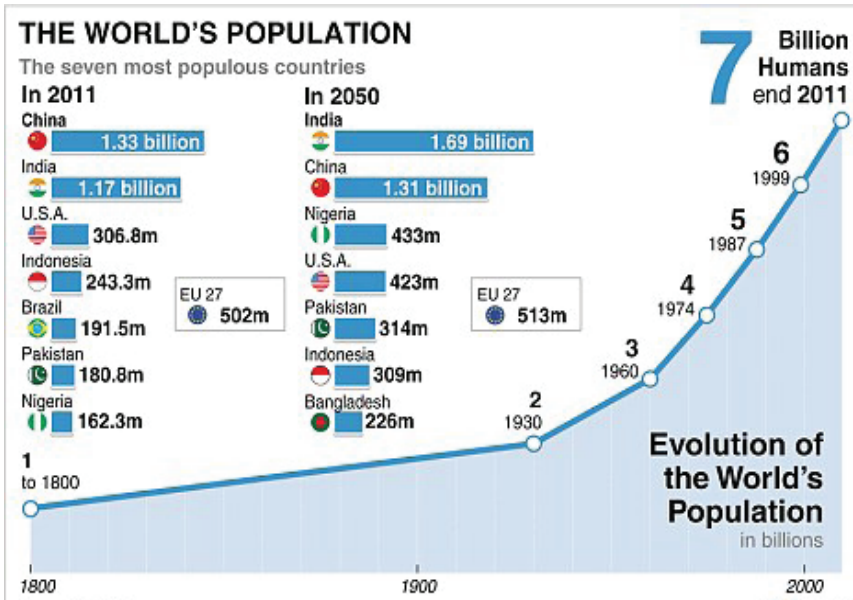
1970 के दशक तक यह बहस गर्म थी कि विश्व की तेजी से बढ़ती आबादी सिर्फ विकासशील देशों के लिए ही नहीं, पूरे विश्व के लिए जानलेवा जोखिम पैदा कर रही है। 'पॉपुलेशन: टाइम बम' जैसे मुहावरे आम थे। आज यह स्पष्ट हो चुका है कि दुनिया के अधिकांश देशों ने परिवार नियोजन को कमोबेश अपना कर इस संकट पर काफी हद तक काबू पा लिया है। जिन देशों ने इस बारे में कोताही बरती है और इस कारण भुखमरी, कुपोषण, महामारी, तथा अराजकता का शिकार हैं, उनको संक्रामक रोग के मरीज की तरह अलग थलग रखना संभव हुआ है। मालथस के सिद्धांत के अवमूल्यन के बाद भी अधिकांश विद्वान इसे स्वीकार करते हैं कि किसी भी देश की आबादी का स्वरूप उसकी नियति को अनिवार्यतः प्रभावित करता है। भूमंडलीकरण के दौर में ज्यादातर बाजार के आकार तथा श्रमशक्ति के भंडार के संदर्भ में ही जनसंख्या की चर्चा होती है। बरसों से दूरदर्शी समाजशास्त्री यह सुझाते रहे हैं कि मात्र जनगणना (संख्या) सार्थक नहीं। किसी देश के नागरिकों का स्वास्थ्य, साक्षरता, शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण ही उसे कार्यकुशल और उत्पादक बनाता है। शायद सबसे महत्वपूर्ण घटक आबादी में कामकाज कर सकने वाली उम्र के सदस्यों का अनुपात है। इसी का चर्चा रूस और जापान के संदर्भ में होता रहा है। विकसित, संपन्न देशों में लगातार बुजुर्गों की संख्या बढ़ती जाती है और हालांकि वह पहले वाली पीढ़ी की तुलना में लंबी उम्र तक तंदुरस्त रहते हैं और परिवार के कमाऊ सदस्यों पर भार नहीं नजर आते। इन्हें उत्पादक श्रमिक-पेशेवर नहीं समझा जा सकता और इनकी पेंशन-सामाजिक सुरक्षा भत्ते का खर्च खजाने पर बोझ बना रहता है। समस्या सिर्फ आर्थिक नहीं। आबादी का यह तबका जिस राजनैतिक सोच और

सांस्कृतिक पसंद का प्रतिनिधित्व करता है उसका तालमेल उसी देश के युवा वर्ग की अभिलाषाओं से बैताना कठिन होता जाता है। परिवारों का कायाकल्प विश्व भर में हो रहा है। देर सबेर इस वर्ग के लोगों को सहारे की जरूरत पड़ती ही है। जिन रोगों से वह पीड़ित होते हैं, वह लगभग लाइलाज होते हैं। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा नीतियां इसे अनदेखा नहीं कर सकती।

दूसरी तरह की चुनौती चीन जैसे देशों की है। जिन्होंने कई दशक पहले अपनी दैत्याकार आबादी को नियोजित ढंग से नियंत्रित करने की नीति को सख्ती से लागू किया था। 'एक परिवार-एक संतान' का अनुसरण करने वाली पीढ़ी में एक ही नाती-पोते के लिए पलक पांवड़े बिछाने वाले माता-पिता के अलावा दादा-दादी, नाना-नानी के लाड प्यार से बिगड़े नौजवानों की संख्या कम नहीं। बड़े शहरों में उश्रुखल-अनुशासनहीन युवा चीन के बुजुर्ग शासकों की चिंता का विषय रहे हैं। यह इकलौती संतानें जिस परिवेश में वयस्क हुई हैं, उसमें आकांक्षाओं का ज्वार तो है, साम्यवादी ही नहीं पारंपरिक मूल्यों का भी अभाव देखने को मिलता है। अभी हाल तक चीन की आबादी कमोबेश संतुलित थी। क्रमशः पलड़ा बुजुर्गों के पक्ष में झुकता जा रहा है। फिलहाल हालात रूस या जापान जैसे विकट न हों, इस सदी के मध्य तक इसके परिणाम अनदेखा करना असंभव हो जाएगा। उस वक्त तक चीन की आबादी स्थिर हो चुकी होगी और यह अनुमान लगाया जाता है कि भारत विश्व का सबसे बड़ी आबादी वाला देश बन चुका होगा। पर क्या हम यह मान कर चल सकते हैं कि हम 'आबादी का लाभांश' भुनाने की निरापद स्थिति में होंगे? यदि ऐसी सामाजिक विषमता आज देश में देखने को मिल रही है उसका उन्मूलन नहीं किया जा सका, तब हालात विस्फोटक हो सकते हैं। इस बात को भी याद रखें कि पोषण, स्वास्थ्य, शिक्षा के स्तर, अनुशासन आदि के बारे में भारत की गणना संसार के पिछड़े समझे जाने वाले देशों के साथ ही की जाती है। कुछ सूचकांकों में तो बांग्लादेश, नेपाल भी हमसे आगे हैं।

आबादी का स्वरूप हर बड़ी ताकत के रूप में पहचाने जाने वाले देश में (चीन

और रूस को छोड़कर) आप्रवासियों तथा शरणार्थियों के कारण तेजी से बदला है। यह शरणार्थी संलग्न गृहयुद्ध की चपेट में झुलसते पड़ोसी देश से जान बचाकर भागते भी पहुंचते हैं और स्वेच्छा से बेहतर भविष्य की आशा से प्रेरित हो कर भी। जब इन लोगों की संख्या स्थानीय निवासियों को अल्पसंख्यक बनती दिखलाई देती है, तब इनके प्रति सहानुभूति बरकरार रखना कठिन हो जाता है। सीरियाई शरणार्थियों के प्रति उन यूरोपीय देशों का बदलता रवैया इसी का उदाहरण है जो खुद को मानव अधिकारों का संरक्षक घोषित कर दूसरों को निर्ममता का आरोप लगा कटघरे में खड़ा करते रहे हैं। नस्लवादी तथा सांप्रदायिक पूर्वाग्रह इस समस्या को अत्यधिक जटिल बना देते हैं। हाल के अमेरिकी चुनावों ने यह बात स्पष्ट कर दी कि जिस देश को विविध सांस्कृतिक धाराओं का नैसर्गिक संगम समझा जाता रहा है वह कितनी बुरी तरह विभाजित है और अल्प-संख्यकों के प्रति कितना जहर बहुसंख्यक समुदाय के औसत मतदाता के मन में है। मुसलमान ही नहीं, हिस्पानी, एशियाई, यहूदी, अश्वेत अमेरिकी सभी को बाहर खदेड़ने की ललकार से ही ट्रंप ने अपनी नाटकीय जीत दर्ज कराई है। विशालकाय आबादी वाले जो देश कमोबेश समरस दिखलाई देते हैं वहां भी आबादी का एक हिस्सा सामरिक दृष्टि से संवेदशील समझा जाता है-चीन में तिब्बती हों या उगयुर, रूस में चेचेन या इंडोनेशिया में बोर्नियो, तिमोर या सुमात्रा के उत्तरी छोर वासी। अरब जगत में कुर्दों की स्थिति ज्यादा फर्क नहीं। जो बात ध्यान देने लायक है वह यह कि हर जगह आबादी का स्वरूप तेजी से और अप्रत्याशित तरीके से अचानक बदल रहा है। पश्चिमी यूरोप के गोरे ईसाई देशों को यह अपनी सांस्कृतिक पहचान के अस्तित्व का संकट लगता है तो आप्रवासी नागरिकों को यह महसूस होता है कि उनकी नागरिकता को जानबूझकर दायम दर्जे का बनाने की साजिश जारी है। सारा हार्पर ने अपनी छोटी सी पुस्तक में शरणार्थियों को समुचित महत्व दिया है। यह याद दिलाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि सभी शरणार्थी विदेशी आगंतुक नहीं होते। आंतरिक विस्थापित जनसमुदाय भी आबादी विषयक आकलन में अलग श्रेणी में ही रखे जाने चाहिए। देहात



से अनियोजित तरीके से लगातार महानगरों में पहुंचने वालों की संख्या से पैदा होने वाली समस्याओं के समाधान की चुनौती ब्राजील, मैक्सिको, इंडोनेशिया में एक समान है।

आबादी के घनत्व का उल्लेख भी जरूरी है। कनाडा तथा कुछ अरब देश अपने प्राकृतिक संसाधनों के भंडार के कारण बेहद महत्वपूर्ण हैं, परंतु यहां स्थानीय नागरिकों की आबादी का घनत्व बहुत विरल होने के कारण यह आप्रवासी श्रमिकों तथा पेशेवरों पर निर्भर हैं। इससे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि इनकी राजनीति स्वाभाविक रूप से समावेशी, उदार और सांस्कृतिक बहुलवाद की पोषक है। कुछ समय पहले तक अमेरिका या ब्रिटेन की तुलना में कनाडा तथा आस्ट्रेलिया शरणार्थियों को आकर्षक लगते थे। यह स्थिति इस्लामी कट्टरपंथी और उससे प्रभावित आतंकवाद के प्रसार के कारण बदली है और यूरोपीय देशों की तरह क्रमशः असहिष्णु होती जा रही है। लेखिका अपनी इस पुस्तक में अंतर्राष्ट्रीय आव्रजन को एक महत्वपूर्ण मुद्दा तो मानती है, पर जिन प्रवृत्तियों तथा आंकड़ों के आधार पर निष्कर्ष निकालती है वह चुनिंदा उदाहरणों से बातचीत से जुटाए गए हैं, अतः यह सामान्यीकरण उपयोगी नहीं लगता।

इन पंक्तियों के लेखक की राय में पुस्तक की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि सभी संप्रभु देशों को संयुक्त राष्ट्र की तरह समान दृष्टि से देखने का है। सहारा के

दक्षिण में अत्यंत निर्धन, पिछड़े राज्यों की आबादी के बारे में पूर्वी एशियाई देशों की आबादी के अनुभव के आधार पर विकास विषयक 'सबक' या 'नुस्खे' नहीं सुझाए जा सकते। यह बात अपनी जगह पर सटीक है कि महिलाओं के स्वास्थ्य और शिक्षा में सुधार के बाद पूरे समाज की प्रगति और खुशहाली में फर्क पड़ता है। जन्म के समय या शैशव में बच्चों की मृत्यु दर में नाटकीय गिरावट देखने को मिलती है और यदि बाल विवाह और लिंगभेदी अन्याय का शिकार होने से उन्हें बचाया जा सके तो अर्थव्यवस्था को कार्य कुशल उत्पादक श्रमिकों की बहुत बड़ी सेना सहज सुलभ हो सकती है। मगर इस बात को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि जो सांस्कृतिक कारण किसी समाज को पितृसत्तात्मक-उत्पीड़क, दकियानूस-सामंतशाही बनाए रखते हैं, उनसे छुटकारा पा कर आबादी का स्वरूप बदलना स्वयमेव अनिवार्यतः नहीं हो जाता। इस पुस्तक में अनेक ग्राफ, आंकड़ों की तालिका शामिल हैं। मानचित्रों का उपयोग भी विश्लेषण के लिए आकर्षक तरीके से किया गया है। इस सबके बावजूद यह लगता है कि फलक को विश्वव्यापी बनाने का विकल्प चुनने की वजह से अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण मुद्दों की अनदेखी हो गई है। आने वाली चौथाई सदी में चीन, भारत, रूस की आबादी का क्या रूप होगा इसका तटस्थ परीक्षण और विस्तृत विश्लेषण किए बिना इस बात का अनुमान नहीं लगाया

जा सकता कि कौन वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की प्रतिस्पर्धा में बाजी मार लेगा और किसकी विकास दर शिथिल हो जाएगी। चीन और भारत खाद्य एवं उर्जा सुरक्षा के क्षेत्र में ही नहीं, पश्चिम के देशों के लिए बाजार और श्रमभंडार के संदर्भ में भी एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी हैं। यह मुकाबला 21वीं सदी के अंतिम चरण तक जारी रहेगी। अमेरिका, रूस तथा यूरोपीय समुदाय के देश इनके साथ अपने सामरिक और व्यापारिक रिश्ते इस सफलता या विफलता के आधार पर ही तय करेंगे। छोटे-छोटे अफ्रीकी या द्वीप राज्यों पर केन्द्रित सर्वेक्षण ने निश्चय ही इस काम में बाधा डाली है। आरंभ में यह कहा गया है कि यह विषय अंतर-अनुशासनी है, पर जनसंख्या के आंकड़ों का उपयोग अर्थशास्त्र के छात्र की तरह ही किया गया है। अफ्रीका तथा अरब जगत की आबादी धर्म तथा जनजातीय-कबाइली आधार पर विभाजित है। इस्लामी जगत में शिया और सुन्नी की दरार के कारण ही सर्वनाशक गृहयुद्ध दशकों से जारी हैं। 'सत्ता परिवर्तन' के सिद्धांत के प्रतिपादन के बाद ईराक, सीरिया, लीबिया में और अफगानिस्तान में जो तबाही हुई है, उसने इस संभावना को बुरी तरह नष्ट कर दिया है कि स्वास्थ्य, शिक्षा, महिला कल्याण, पोषण से जुड़े विकास कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी जा सके। गृहयुद्ध के कारण शरणार्थियों की बाढ़ ही आबादी के संदर्भ में उल्लेखनीय नहीं। सैनिक संघर्ष के विध्वंस के बाद इन देशों की आबादी की रचनात्मक और हिंसात्मक क्षमता का अनुमान लगाने के लिए सिर्फ नागरिकों की उम्र के आधार पर कतई नहीं लगाया जा सकता। अनाथ, बेघर बच्चों-किशोरों की बहुलता वाले देश में असामाजिक-आपराधिक व्यापार ही पनप सकता है। यह बात अटपटी लगती है कि लेखिका ने महानगरों की मलिन बस्तियों की निवासी आबादी के इन विकसित राज्यों के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव और इसके कारण 'दुनिया के कायाकल्प' के बारे में विश्लेषण का कोई प्रयास नहीं किया है। आक्रोश से भरे अराजक हिंसात्मक उपद्रवों के लिए उत्तेजित गरीब सिर्फ सहारा के दक्षिण वाले अफ्रीका में ही नहीं बसते। उग्र राष्ट्रवाद, नस्लवादी असहिष्णुता के दर्शन फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका में भी होते हैं

आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका में भी। सोवियत संघ के विघटन और साम्यवादी साम्राज्य के विखंडन के बाद रूस की आबादी यूरोशियाई नहीं बची है। जैसे चीन की आबादी का बड़ा हिस्सा हान वंशियों का है, वैसे ही आज के रूस में स्लाव मूल की आबादी बहुसंख्यक है।

आने वाले वर्षों में विश्व की आबादी में बदलाव किस तरह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और अर्थव्यवस्था का कायाकल्प कर देगा तथा इसके क्या प्रभाव भूमंडलीकृत संस्कृति पर पड़ेंगे, सिर्फ कुल जनसंख्या में जवानों और बूढ़ों की आबादी के अनुपात पर निर्भर नहीं करता। नस्लवादी भेदभाव के साथ-साथ सांप्रदायिक कट्टरता और राजनैतिक विचारधारा जनित मतभेद भी पुरानी ही नहीं नई पीढ़ी के आचरण को निर्धारित करते रहेंगे, इसमें दो राय नहीं हो सकता। आज शीत युद्ध जैसा टकराव नहीं, पर यह सोचना नादानी है की पुतिन का रूस या शि का चीन, अमेरिका या यूरोप के देशों की तरह पूंजीवादी या जनतांत्रिक हैं। रूस और चीन दोनों इसी बात का प्रमाण हैं कि साम्यवादी व्यवस्था के ध्वस्त होने का अर्थ राजकीय प्रणाली का जनतांत्रिक होना नहीं होता। ऐतिहासिक बैर अन्यत्र भी राष्ट्रीय सोच पर असरदार हैं। कट्टरपंथी इस्लाम के प्रसार ने शिया-सुन्नी विभाजन को समाप्त नहीं किया है। अभावग्रस्त उत्पीड़ित देशों की नौजवान पीढ़ी को उपभोगवादी अपसंस्कृति का उपभोक्ता बनाने में बहुराष्ट्रीय कंपनियों सफल हुई हैं। यह तबका अपने को ग्राहक के रूप में तो वैश्विक नागरिक समझता है, पर मानवाधिकार हों या पर्यावरण अपने सामाजिक-सामूहिक उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक नहीं।

एक देश के नागरिकों को स्वेच्छा से कहीं और जा बसने की स्वतंत्रता निर्बाध नहीं। गोरे, ईसाई, पढ़े-लिखे आप्रवासी के लिए आवागमन आसान है, पर अश्वेत, मुसलमान-गैरईसाई, अंग्रेजी बोलने में असमर्थ 'शरणार्थी' को कभी भी विश्वासघात कर सकने वाले शत्रु के रूप में शक की निगाह से ही देखा जाता है और उसकी इस कमजोरी का फायदा अवैध मेहमान श्रमिकों के शोषण से उठाया जाना आम है। लेखिका का दृष्टिकोण पाठ्यपुस्तकीय अमूर्तन को अपनाने से संकुचित हो गया है और जमीनी हकीकत से दूर होता जाता है।

आज नवउपनिवेशवाद और नव साम्राज्यवाद जैसे शब्दों का प्रयोग कम हो गया है, परंतु सच यही है कि बुढ़ाती आबादी वाले बुद्धिबली संपन्न ताकतवर देश दूसरे देशों की आबादी के नौजवान, प्रतिभाशाली, प्रशिक्षित और मेहनतकश तबके को अपने सांचे में ढाल उसका उपयोग करने में महारत हासिल कर चुके हैं। अमेरिका और चीन तथा पश्चिमी एवं पूर्वी यूरोप के संबंधों में यही 'व्यावहारिक यथार्थ' प्रतिबिंबित होता है। अंत में यह दोहराने की जरूरत है कि आबादी के स्वरूप के बदलने की प्रक्रिया निरंतर जारी रहती है।

मानवजाति के हजारों साल के इतिहास में यह बदलाव पर्यावरणीय परिवर्तन और युद्ध-शांति के चक्र के अनुसार सामाजिक जीवन तथा राजनीति के साथ-साथ आर्थिक क्रिया कलाप को संचालित करता रहा है। क्रमशः होने वाले इस परिवर्तन की तुलना किसी क्रांति से नहीं की जा सकती। इसके बारे में संवेदशील और उभरती चुनौतियों के प्रति सतर्क रहना निश्चय ही समझदारी

का काम है। इसीलिए इस पुस्तक को विचारोत्तेजक तथा उपयोगी समझा जा सकता है।

संक्षेप में बहुत सी सामग्री एक जगह सुलभ कराने वाली इस किताब का पहला अध्याय (एज नैरेटिव) संक्षेप में मगर बहुत विचारोत्तेजक तरीके से पाठक का ध्यान इस विमर्ष की तरफ आकर्षित करने का सफल प्रयास करता है तो दूसरे में इस बात की पड़ताल की गई है कि हम इस समस्या या संकट तक पहुंचे कैसे? तीसरे अध्याय का शीर्षक है 'बुढ़ापे का बोझ' (दि ग्रे बर्डन)। इसके तत्काल बाद इस मान्यता को कसौटी पर कसा गया है कि क्या वास्तव में नौजवान आबादी सौभाग्यशाली संसाधन है या इसके साथ जुड़े जोखिम अधिक चिंताजनक हैं? पांचवे अध्याय में इस बात का परीक्षण किया गया है कि दुनिया की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा बच्चों का होने के क्या परिणाम भविष्य में देखने को मिल सकते हैं। अंतिम खंड में 'अपना चेहरा भविष्य के दर्पण में' देखने की कोशिश है और पाठक इसके आधार पर खुद मनोवांछित नतीजों तक पहुंच सकता है।

बहरहाल जो बात गांठ बांधने लायक है वह यह कि दुनिया की आबादी का बदलाव सभी देशों और क्षेत्रों में एक जैसा नहीं हो रहा। खुशहाल यूरोप में आबादी बुढ़ी हो रही है, उसकी वृद्धि की दर और उत्पादकता कम हो रहे हैं तो गरीब विकासशील देशों की जनसंख्या में किशोरों तथा नौजवानों का अनुपात ज्यादा है। पर इससे यह नतीजा निकालने की जल्दबाजी नादानी ही है कि इसकी उत्पादकता भी बढ़ती जा रही है। कुपोषण और अशिक्षा का सन्निपात जब आकांक्षाओं के ज्वार से होता है तो अस्थिरता पैदा करने वाली अराजकता का जोखिम भी बढ़ता है। महिला आबादी की स्थिति अलग से विचारणीय है और शरणार्थियों की भी। आबादी के किसी एक तबके के सभी सदस्यों के हित समान हों, यह भी जरूरी नहीं। दुनिया की आबादी में बदलाव को अनदेखा नहीं किया जा सकता, पर एकमात्र इसी के आधार पर विश्वव्यापी समान्यीकरण कर सामरिक भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।





मणिकांत सिंह

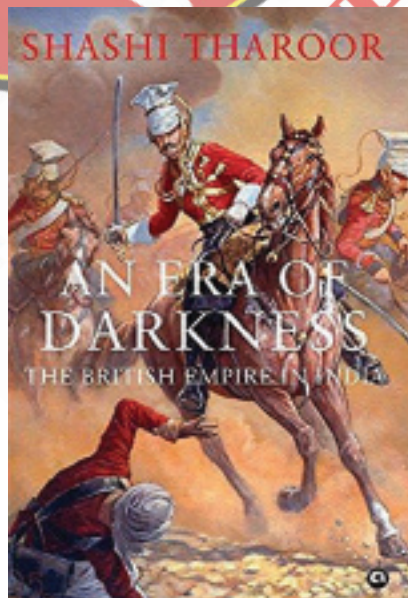
इस पुस्तक का शीर्षक पहली नजर में आकर्षक तथा विचारोत्तेजक लगता है, पर तत्काल ही यह बात दिमाग में कौंध जाती है कि इसे एक मिलते जुलते शीर्षक वाली बहुचर्चित पुस्तक के शीर्षक से टीपा गया है। बरसों पहले प्रसिद्ध उपन्यासकार एवं यात्रा पुस्तकों के लेखक वीएस नायपॉल ने 1960 के दशक वाले भारत पर केन्द्रित अपनी पुस्तक का शीर्षक तय किया था 'एरिया ऑफ डार्कनेस' अर्थात् 'अंधकार का क्षेत्र' तब भारतवंशी इस लेखक की आलोचना इसलिए हुई थी कि उन्हें आजादी की रजत जयंती मना चुके भारत में सब कुछ बुरा ही बुरा नजर आ रहा था। उन्हें औपनिवेशिक दासता वाली मानसिकता की बेड़ियों से जकड़ा समझा गया। एरिया से ध्वनिसाम्य वाले 'एरा' शब्द का प्रयोग कर शशि थरूर ने शब्दों से खिलवाड़ की अपनी प्रवृत्ति का विज्ञापन तो किया ही है, लंबी याददाश्त वाले पढ़े लिखे पाठकों को यह भी जतलाने की कोशिश की है कि वह अंधकार के क्षेत्र के रूप में भारत की आलोचना करने वाले लेखकों को यह दर्पण दिखलाने की चेष्टा कर रहे हैं कि आखिर इस अंधेरे के लिए जिम्मेदार कौन है? शीर्षक से ही वह इस बहस को शुरू करने की कोशिश में लगे नजर आते हैं कि भारत में अंग्रेजी राज ने ही इस देश को अंधकार के गर्त में धकेला है।

यहां एक और बात की तरफ ध्यान दिलाया जाना जरूरी है। पश्चिमी यूरोपीय इतिहास के संदर्भ में 'अंधकार का युग' (डार्क एजेंस) प्रबोध (एनलाइटनमेंट) से,

एन एरा ऑफ डार्कनेस: दि ब्रिटिश एंपायर इन इंडिया

लेखक: शशि थरूर

नवजागरण (रिनैसां) से पहले का कालखंड है। अंधविश्वास तथा जहालत से भरा, खुद को सभ्य और सुसंस्कृत समझने वाले यूरोपीय उपनिवेशवादी अफ्रीका तथा एशिया के अपने से भिन्न समाजों को अंधकार ग्रस्त और अंधकार पीड़ित करार देते रहे हैं, जिन्हें बर्बर से सभ्य बनाने की जिम्मेदारी का बोझ गोरे आदमी ने सहर्ष उठाया था। कौन्ट्रेड जैसे उपन्यासकार के प्रसिद्ध मुहावरे में अफ्रीका 'हार्ट ऑफ डार्कनेस' था और अधिकांश विद्वान इस महाद्वीप का वर्णन काले महाद्वीप (डार्क कॉन्टिनेंट) के रूप में करते थे। रडयार्ड किपलिंग जैसे साम्राज्यवादी कवि तो यह बात स्वयं सिद्ध मान कर चलते थे कि इन आदिम समाजों को सभ्य बनाने का बोझ परोपकारी गोरों ने बखुशी उठाना कबूल किया है। इसे 'व्हाइट मैन्स बर्डन', 'सिविलाइजेशनल मिशन' आदि नाम दिए जाते रहे।



राजनैतिक चेतना के प्रकट होने के साथ ही इस मत को चुनौती दी जाने लगी। राष्ट्रप्रेमी इतिहासकारों ने औपनिवेशिक मक्कारी का पर्दाफाश करने की भरसक कोशिश की। भारत में बर्तानवी साम्राज्य के कडुए सच का प्रामाणिक विश्लेषण करने वालों में दादा भाई नौरोजी और पूर्व आइसीएस अधिकारी आर सी दत्त के नाम सबसे पहले याद आते हैं। बिपन चंद्रा जैसे इतिहासकारों ने भारतीय राष्ट्रवाद का आर्थिक आधार जैसी पुस्तकों के माध्यम से अंग्रेजी शासन के उत्पीड़क शोषक पक्ष को उजागर किया है।

हिंदी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी भारत में अंग्रेजी राज के बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। भले ही इस पूरे दौर को अंधकार का युग न कहा जाता हो कोई भी यह दावा नहीं करता कि यह भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग था। स्कूली किताबों में यह बात दर्ज है कि मैकाले के शैक्षिक सुधारों ने कैसे भारतीय प्रतिभा को कुंठित किया अथवा कैसे अंग्रेजी कपड़ा उद्योग ने ढाके की मलमल के बुनकरों के 'हाथ काट डाले'। सती जैसी सामाजिक कुरीति के उन्मूलन का श्रेय अंग्रेज शासकों को बेहिचक दिया जाता है, पर इस बात की जानकारी जनसाधारण को है कि अंग्रेजों ने जो कुछ भी इस देश में किया वह अपने आर्थिक तथा साम्राज्य के सामरिक हितों की रक्षा के लिए ही किया। रेल लाइनों का बिछाया जाना, या पहले अमेरिकी गृह युद्ध तथा बाद में पहले विश्व युद्ध के कारण भारतीय उपमहाद्वीप में उद्योग धंधों की स्थापना यह स्वार्थ साधन की मजबूरी में ही किए गए काम थे। नस्लवादी अत्याचार, अदालतों के दोहरे मानदंड और विभिन्न धर्मावलंबियों में फूट डाल कर राज करने की नीति-इन

सबका विस्तार से अध्ययन अनेक लेखक पहले कर चुके हैं। बहुत बड़े पैमाने पर भारतीय श्रमिकों को जबरन दूर दराज के दूसरे उपनिवेशों में ले जाकर 'बसाने' की गाथा भी अनजान नहीं। अब सवाल यह उठता है कि फिर क्यों शशि थरूर को इसी वक्त यह पुस्तक लिखने की जरूरत पड़ी?

इस सवाल का उत्तर देने के लिए लेखक से अपना परिचय ताजा करने की जरूरत है। शशि थरूर हाल के वर्षों में निरंतर विवादों के घेरे में रहे हैं। सुदर्शन, वाक्पटु और आत्ममुग्ध शशि निसंदेह बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं और उनकी उपलब्धियां नजरंदाज नहीं की जा सकती। वह संयुक्त राष्ट्र संगठन के उप महासचिव पद पर काम कर चुके हैं और महासचिव के सर्वोच्च पद के लिए चुनाव भी लड़ चुके हैं। हार के बाद उन्होंने काँग्रेस पार्टी की सदस्यता स्वीकार की और तिरुअनंतपुरम् से लोकसभा का चुनाव आसानी से जीता। मनमोहन सरकार में वह राज्य विदेश मंत्री भी रहे। इसी दौरान अपनी पत्नी सुनंदा पुष्कर के साथ आइपीएल की एक टीम के स्वामित्व को लेकर वह बदनाम हुए। यों इसके पहले भी जानवरों की तरह सफर करने वाले अपने निर्धन देशवासियों की मजबूरी का मजाक उड़ाने की वजह से वह अपनी भद करवा चुके थे। यूएन से मिलने वाली अपनी कर मुक्त पेंशन का जिक्र वह अकसर यह दिखाने को करते रहे हैं कि जनता की सेवा के लिए वह कितनी सुख सुविधाओं का त्याग कर कीचड़ वाले मैदान में उतरे हैं। यह मांग जोर पकड़ने लगी थी कि इस तरह के बेरहम वक्तव्यों के लिए शशि को केंद्रीय मंत्रिमंडल से बर्खास्त कर दिया जाना चाहिए। राहुल गांधी की नजरों में चढ़े थरूर की जान उस समय तो बच गई पर कुछ समय बाद संदेहास्पद परिस्थितियों में सुनंदा की आत्महत्या के कारण वह फिर अचानक कटघरे में खड़े नजर आने लगे। व्यक्तिगत जीवन में अय्याशी, रंगीन मिजाजी के लिए मशहूर शशि थरूर अनेक चर्चित पुस्तकों के लेखक भी हैं। उन्होंने उपन्यास, निबंध, जीवनी, समाचार पत्रों में स्तंभ अनेक विधाओं में अपना हाथ आजमाया है। सरस लेखन शैली के कारण लगभग सभी पुस्तकें पठनीय लगती हैं, परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि यह उपयोगी भी हैं। पेशे से

अंतर्राष्ट्रीय राजनयिक शशि की विशेषज्ञता अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की है, पर वह भारतीय इतिहास, मिथक और भारतीय संवैधानिक इतिहास को भी अपनी दिलचस्पी का विषय मानते हैं।

मगर यह सोचना नादानी होगा कि यह किताब सिर्फ बौद्धिक कसरत के लिए लिखी गई है। अपना पूरा जीवन आप्रवासी के रूप में बिता कर भारतीय राजनीति में 'आकाश से टपके- खजूर में अटके' जैसी छवि वाले शशि के ऊपर यह दबाव जबर्दस्त रहा है कि वह भारत के बारे में अपनी जानकारी और देशभक्ति के प्रमाण दें। काँग्रेस में शामिल होने के बाद से ही वह इस कोशिश में लगे रहे हैं कि पुरानी निष्क्रिय पीढी की तुलना में वह खुद को ओजस्वी-प्रतिभाशाली नेतृत्व क्षमता वाला पेश कर सकें। व्यक्तिगत जीवन में एकाधिक अप्रिय विवादों में घिरने के बाद प्रकाशित यह पुस्तक शशि को मंच पर पुनर्प्रतिष्ठित करने वाले अभियान का हिस्सा जान पड़ती है।

कुछ समय पहले तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने अपनी इंग्लैंड यात्रा के दौरान अंग्रेजी राज के गुणगान और अंग्रेजों के महिमामंडन में कुछ अतिरंजना कर दी थी। न केवल अंग्रेजी भाषा और शिक्षा बल्कि पुलिस बंदोबस्त के लिए भी वह हास्यास्पद तरीके से गोरे मालिकों का आभार जताते रहे। जो कुछ उन्होंने कहा वह औपचारिक शिष्टाचार के तकाजे से कहीं अधिक था और उस वक्त भी अधिकांश स्वाभिमानी भारतीयों को यह बात नागवार गुजरी थी कि इतिहास में नवीनतम शोध से अनभिज्ञ क्यों यह सरकारी अर्थशास्त्री अपने मेजबानों को रिझाने के लिए उतावला हो रहा है। बहरहाल इस मनमोहन सिंह के व्यक्तित्व की कमजोरी मान जल्दी ही अनदेखा कर दिया गया, पर तभी से इस बहस को गरमाने तथा मनमोहन के कहने से सार्वजनिक असहमति प्रकाशित करने के लिए लोग कसमसाते रहे हैं। इसी का लाभ अनायास लेखक ने उठाने की कोशिश की है।

यह पुस्तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में पिछले साल आयोजित एक वाद विवाद प्रतियोगिता में दिए शशि थरूर के भाषण का

परिवर्धित रूप है। जिस जोशीले ढंग से उस समय थरूर ने भारत में बर्तानवी साम्राज्य की असलियत की धज्जियां उड़ाई वह विश्व भर में चर्चा का विषय बना। यह भाषण यूट्यूब, ट्विटर पर महामारी की तरह फैला (वायरल बन गया।) और इस देश प्रेमी प्रहार की प्रशंसा नवनिर्वाचित प्रधानमंत्री मोदी तक ने की। यह बात समझ में आती है कि अपनी बात को और भी अधिक लोगों तक पहुंचाने के लिए भाषण का रूपांतर पुस्तक में करने का फैसला किया गया।

लेखक का दावा है कि पुस्तक के प्रकाशन के पहले उन्होंने बड़े पैमाने पर शोध किया है और दूसरे पक्ष के तर्कों को भी तटस्थ भाव से पाठक के सामने रखने का प्रयास किया है। इस 'शोध' पर एक टिप्पणी सबसे पहले जरूरी है। सभी मशहूर तथा व्यस्त लेखकों की तरह थरूर ने भी यह शोध स्वयं नहीं अपने कबिल सहायकों की सहायता से संपन्न कराया है। संदर्भ सामग्री की सूची और पूरक टिप्पणियों से यह साफ हो जाता है कि यह काम किसी अप्रकाशित या दुर्लभ स्रोत के उपयोग से किसी नए निष्कर्ष तक नहीं पहुंच सकता। हां, एक ही जगह बहुत सारे हाल में प्रकाशित पुस्तकों लेखों का 'निचोड़' अपनी स्थापनाओं को प्रमाणित करने के लिए लेखक ने किया है। एक छोर पर बिमल चंद्रा जैसे बुजुर्ग इतिहासकारों की आधा सदी से भी पहले प्रकाशित 'प्रामाणिक' पुस्तकों के उद्धरण हैं तो दूसरे छोर पर राम गुहा और विलियम डैलीरंपल सरीखे लोकप्रिय सामान्य पाठक के लिए इतिहास को सजीव बनाने वाले जैसे समसामयिक लेखकों की रचनाओं को उतना ही वजन दिया गया है। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरु की जीवनियों से तो लंबे-लंबे उद्धरण हैं ही भारतीय इतिहास का सार संक्षेप प्रस्तुत करने वाली 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' को भी प्राथमिक स्रोत का दर्जा दिया गया है।

इतिहास में शोध कार्य निरंतर जारी रहता है और इस जोखिम से बचने की जरूरत है कि किसी भी जटिल विषय का परीक्षण आधुनिकतम शोध के मद्दे नजर रखने से कहीं अर्थ का अनर्थ न हो जाए। अपने तात्कालिक प्रयोजन को सिद्ध करने की उतावली में लेखक चुनिंदा उद्धरण की

पैबंद लगा आगे बढ़ता जाता है। व्यापक अति सरलीकरण-सामान्यीकरण का दोष भी लगभग सभी जगह झलकता है। मानव सभ्यता का सर्वेक्षण प्रस्तुत करने वाली विल डूरंट की महत्वाकांक्षी पुस्तक शृंखला को भारत में बर्तानवी राज के बारे में आधार बनाने की मजबूरी शायद इसी कारण हुई है, क्योंकि शोध सहायक अनावश्यक श्रम के लिए उत्सुक नहीं थे।

पुस्तक को जिन अध्यायों में बांटा गया है वह निश्चय ही तर्कसंगत हैं- कानून का राज और जनतांत्रिक प्रणाली, अर्थव्यवस्था तथा कारोबार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा पत्रकारिता, सांप्रदायिक विभाजन एवं भारतीय श्रमिकों का बलात् आब्रजन। लेखक ने इस बात को बारंबार रेखांकित किया है कि यह स्थापना बहुत भ्रामक है कि अंग्रेजों के भारत पहुंचने के पहले यह भू-भाग टुकड़ा-टुकड़ा बंटा था और सैकड़ों रियासतों रजवाड़ों की ही अलग पहचान थी-राष्ट्र की अवधारणा से भारत अपरिचित था। उसे एक राजनैतिक इकाई और राष्ट्र के रूप में मान्यता अंग्रेजों ने ही दिलाई। राजनीति शास्त्र का हर विद्यार्थी यह जानता है कोई तीन सौ साल पहले वैस्टफालिया की संधि के पहले तक खुद यूरोप में राष्ट्र राज्य नामक कोई जंतु उपस्थित नहीं था। फ्रांसीसी क्रांति के बाद ही नए गणराज्य का उदय हुआ जो राजशाही से फर्क था। (यों अमेरिकी क्रांति ने गणराज्य की स्थापना 'नई दुनिया' में कर दी थी)। नेपोलियन के साम्राज्यवादी राज्य की सीमा रेखा विस्तारक युद्धों ने ही यूरोप के अनेक देशों में राष्ट्रीयता का ज्वार पैदा किया। एशिया और अफ्रीका में यूरोपीय उपनिवेशवादियों के संघर्ष ने भी इस 'स्वदेशप्रेमी उत्कट राष्ट्रीयता' को प्रोत्साहित किया।

याद रहे ईसा के जन्म से कई सदी पूर्व ही भारत की एक स्पष्ट पहचान रही है। सिकंदर महान से लेकर अरब-चीनी सौदागर 'हिंद' का रुख करते रहे हैं। मौर्य काल में ही इस उपमहाद्वीप की भू-राजनैतिक एकता स्वीकारी जाती रही है। मजेदार बात यह है कि इस पुस्तक में भारत की राष्ट्रीय पहचान और भावनात्मक एकता के अकाट्य प्रमाण के रूप में लेखक डायना एक की हाल में प्रकाशित पुस्तक को उद्धृत करता है,

जिसका शीर्षक है इंडिया: सैक्रेड जियोग्राफी (भारत: पवित्र भूगोल)। यह बात इस लिए उल्लेखनीय है कि न केवल थरूर की पार्टी बल्कि उन जैसे सभी उदार-तरक्की पसंद आधुनिक अंग्रेजीदां सार्वजनिक बौद्धिक जिस धर्मनिरपेक्षता वाले चश्मे को चढा इतिहास का सर्वेक्षण करते हैं, उसमें यह बात स्वीकार करना जोखिम भरा ही समझा जाता है। थरूर यह बात ईमानदारी से कबूल करते हैं -कम से कम यहां हिंदू ही नहीं बौद्ध, जैन तथा सूफी परंपरा वाली धार्मिक विरासत ने भी भारतीय राष्ट्र की अवधारणा को पुष्ट किया है। मिथकों तथा पौराणिक आख्यानों का प्रभाव जनसाधारण के मन पर पेशेवर इतिहासकारों के शोध से कहीं अधिक असरदार होता है। यह बात समसामयिक राजनीति कई बार प्रमाणित कर चुकी है। पुस्तक का यह अंश पाठकों को इस विषय में नए सिरे से सोचने के लिए प्रेरित कर सकता है।

औपनिवेशिक भारत में संवैधानिक विकास, स्वाधीनता संग्राम के उतार चढाव, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं पत्रकारिता के इतिहास अथवा सांप्रदायिक वैमनस्य के बीजारोपण के बारे में कोई नई जानकारी लेखक नहीं देता और नहीं इन विषयों पर कोई अंतर्दृष्टि ही पाठक को प्राप्त होती है। एनसीईआरटी की पाठ्य पुस्तकों में जो जानकारी उपलब्ध है वह भले ही इतनी चुस्त मुहावरेदार जुबान में न लिखी गई हो कम सारगर्भित नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि वर्षों विदेश में रहे और वहीं उच्च शिक्षा प्राप्त लेखक के लिए यह सब नेहरू द्वारा 1960 के दशक में 'भारत की खोज' जैसा रोमांचक अभियान है। जाहिर है कि वाद विवाद प्रतियोगिता की ही तरह यह पुस्तक भी मुख्यतः विदेशी पाठक के लिए लिखी गई है। मसलन 'महात्मा' शब्द गांधीजी के नाम के पहले लगाते लेखक को कोष्ठ में इसका अनुवाद देने की जरूरत महसूस होती है।

पुस्तक में कुल मिलाकर आठ अध्याय हैं। पहले का शीर्षक है 'लूटिंग इंडिया' अर्थात् कंपनी बहादुर के 'शासन' काल से ही भारत के संसाधनों को हथियाने का कारोबार शुरू हो चुका था। स्थानीय शासकों

को भ्रष्ट, अय्याश और प्रजा को निरक्षर, अबोध, अंधविश्वासग्रस्त प्रचारित कर सत्ता पर कब्जा करने की साजिश का इसमें विस्तार से बखाना है। दूसरे अध्याय में यह सवाल उठाया गया है कि क्या अंग्रेजों ने भारत को राजनैतिक एकता प्रदान की? विदेश में आयोजित किसी वाद विवाद प्रतियोगिता में ही यह प्रश्न पूछना सार्थक समझा जा सकता है। प्राचीन काल से छत्रपति शासक के लिए जो भौगोलिक क्षेत्र परिभाषित किया जाता रहा है, वह 'उत्तर में हिमालय से दक्षिण में समुद्र तक' सुनिश्चित है। भारत की पवित्र नदियां, और तीर्थ समस्त उपमहाद्वीप में वितरित किए गए तो इसीलिए कि राजनैतिक एकता पुष्ट हो सके। तीसरा अध्याय अपेक्षाकृत अधिक दिलचस्प है जिसमें 'पत्रकारिता, संसदीय प्रणाली और कानून के राज' के संदर्भ में बर्तानवी साम्राज्य की विरासत का मूल्यांकन किया गया है। यहां भी यह दोहराने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि अपनी जैसी जनतांत्रिक संसदीय प्रणाली को इस उपनिवेश में स्थापित करने में अंग्रेजों की कोई दिलचस्पी नहीं थी। सच तो यह है कि इंग्लैंड में भी जनतंत्र की हकीकत बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक आभिजात्य वर्ग तक ही सीमित थी। आयरलैंड तथा वेल्स के नागरिकों के तेवर इसीलिए बागियों से रहते थे। खुद नेहरू ने अपनी जीवनी में यह स्वीकार किया है कि भारत की गुलामी के बारे में उनका सोच आयरलैंड के स्वाधीनता संग्राम की जानकारी हासिल करने के साथ बदला था। कानून के राज का मतलब है अदालत में सभी को समान अधिकार। जाहिर है यहां भी औपनिवेशिक अदालतें गोरे साहबों और भूरे दासों में फर्क करती थीं। मैकाले ने जिस अपराध संहिता का संकलन किया था उसका आधार यह सोच था कि विवेक हीन शासित वर्ग को नुकसान से बचाने के लिए सख्त कानून जरूरी हैं। दंड का भय ही उन्हें पाशविक आचरण से रोक कर सभ्यता की ओर ले जा सकता है। यह भी कोई रहस्य नहीं, पत्रकारिता के क्षेत्र में अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं के अखबारों तथा संपादकों के साथ दोहरे मानदंड अपनाए जाते थे। 1857 की खूनी उथल-पुथल के बाद ही बर्तानवी राज के खिलाफ जनाक्रोश का ज्वार उठा था और राजनैतिक चेतना का

प्रसार हुआ। इसी दौर में ईसाई मिशनरी जो प्रेस साथ लाए थे वह आजादी की लड़ाई लड़ने वालों के हाथ हथियार बन गए। प्रेस का दमन नियंत्रण इसके बाद ही तेज हुआ। यह बात समझ नहीं आती कि इतिहास की बात करते-करते लेखक अचानक वर्तमान में कूद पड़ता है और आत्ममुग्ध औपनिवेशिक कानूनों के सुधार के लिए अपने योगदान पर रोशनी डालने लगता है। समलैंगिक शारीरिक संबंध विषयक धारा 377 का यहां क्या काम? हां, राजद्रोह (सेडिशन) वाले उत्पीड़क कानून के सिलसिले में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के छात्र आंदोलन का उदाहरण जायज लगता है। यह सुझाना तर्कसंगत है कि इस पुस्तक के लिखने-छपवाने का एक मकसद राजनीति में अपनी खोई साख फिर से हासिल करना है।

अगला चौथा अध्याय 'फूट डालो और राजनीति करो' की नीति का विश्लेषण करता है। यह बात भी बरसों से सामान्य ज्ञान का हिस्सा है कि जनगणना का दुरुपयोग इस काम के लिए कैसे किया गया और कैसे जातिव्यवस्था को हिंदू समाज को बांटने के लिए अंग्रेजों ने किया। यह भाग शायद सबसे कमजोर है क्योंकि वर्तमान धर्मनिरपेक्षता के प्रति पूर्वाग्रह होने की वजह से मध्ययुग में (सल्तनत काल तथा मुगल साम्राज्य के दौर में) हिंदू-मुसलमानों के संबंधों की जटिलता को समझने का कोई प्रयास नहीं किया गया है बस 19वीं सदी के मध्य से देश के विभाजन तक कांग्रेस पार्टी के चरम से ही दो राष्ट्र सिद्धांत का परीक्षण किया गया है। 'फ्रीडम एट मिडनाइट' से ले कर 'इंडिया आफ्टर गांधी' तक जैसी पुस्तकें इस मुद्दे की बाल की खाल निकाल चुकी हैं। खिलाफत आंदोलन को समर्थन देने में महात्मा गांधी की उतावली हो या 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के 'करो या मरो' वाले नारे की रूमानी यादें इस कड़वे सच को नजरंदाज करती रही हैं कि सांप्रदायिक सद्भाव की जड़ें वास्तव में कितनी कमजोर हो चुकी थीं। 15वीं वही 16वीं सदी के बहुचर्चित समाज-सुधारक भक्ति आंदोलन को निश्चय ही बर्तानवी साम्राज्य की विरासत का हिस्सा नहीं माना जा सकता। यदि भारतीय समाज में गहरी दरार पहले से नहीं होती तो अंग्रेज इसका लाभ नहीं उठा सकते। जिन्ना तथा

मुस्लिम लीग को ही बाबादी के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। लेखक क्रिप्स मिशन, कैबिनेट प्लान आदि का जिक्र करता है, पर बड़ी आसानी से 1937-39 के बीच कांग्रेसी सरकारों की पक्षधरता और जेल से रिहाई के बाद नेहरू का माउंटबेटन के बहलाने फुसलाने से विभाजन को सर्वश्रेष्ठ विकल्प मान लेना वह अनदेखा कर देता है। घुमा फिरा कर 'ट्रिस्ट विथ डेस्टिनी' वाले काव्यात्मक भाषण का सहारा लेने को शशि मजबूर होते हैं।

पांचवा अध्याय अंग्रेजों की प्रबुद्ध (जनहितकारी) तानाशाही का पर्दाफाश करने की लचर कोशिश है। इस बात को याद दिलाने की जरूरत है कि आजादी के बाद नेहरू ने जिस आधार पर अंग्रेजी कानून, उनकी नौकरशाही तथा शिक्षा व्यवस्था को बरकरार रखा था, वह प्रत्यक्षतः इस बात को स्वीकार करना था कि कुलमिलाकर अंग्रेजी शासन-प्रशासन 'जनहितकारी' था। रियासतों-रजवाड़ों के उन्मूलन करे बाद भारतीय गणराज्य में उनके विलय के बाद भी सामंतशाही को विस्थापित करने वाली व्यवस्था वास्तव में जनतांत्रिक नहीं औपनिवेशिक ही कही जा सकती है। इस स्थिति में बदलाव श्रीमती इंदिरा गांधी के सत्तारूढ़ होने के बाद ही आ सका। आज भी देश में यह बहस जारी है कि नेहरू की प्रबुद्ध (जनहितकारी) तानाशाही का क्या फायदा और नुकसान हमें हुआ है?

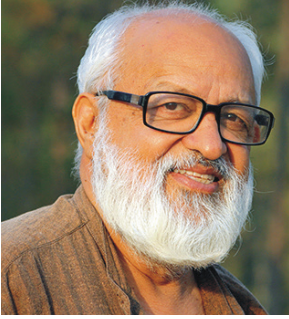
छठा अध्याय तो चूंचू का मुरब्बा बन गया है। इसमें भारतीय विश्वविद्यालयों की सीमाएं भी उजागर की गई हैं और क्रिकेट के अंग्रेजी खेल की 'खालिस भारतीय आत्मा' से साक्षात्कार भी शामिल है। लेखक इतने से ही संतुष्ट नहीं। खादान और बागान मजदूरों के शोषण उत्पीड़न की दास्तान बखानने का लोभ संवरण नहीं कर पाता। आशीष नंदी जैसे मनोवैज्ञानिक हों या अमिताव घोष जैसे उपन्यासकार सभी की मौलिक रचनाओं के संक्षिप्त उद्धरण थरूर प्रमाण के रूप में पेश करते हैं।

उद्धृत यह है कि लेखक की विशेषज्ञता भारतीय विदेश नीति तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की है- औपनिवेशिक इतिहास या भारतीय समाजशास्त्र के बारे में वह दूसरों

की टिपणियों पर निर्भर हैं। इस मामले में प्रामाणिक शोध सामग्री, अभिलेखागारों में संरक्षित दस्तावेजों और अखबारों एवं पत्रिकाओं के सामयिक सामान्य पाठक की दिलचस्पी वाले लेखों को वह बराबर वजन देते नजर आते हैं। जो 'निष्कर्ष' इस घड़ी राजनैतिक समझदारी दर्शाते हैं और उत्तर-औपनिवेशिक इतिहास दर्शन वाली सोच से प्रभावित हैं, उनके प्रति शशि थरूर का रुझान तटस्थता को प्रभावित करता है।

सातवें अध्याय में भारत में बर्तानवी साम्राज्य का लेखाजोखा पेश करने की रस्म अदायगी भर निबाही गई है। आठवें-अंतिम- अध्याय का शीर्षक कौतुहल पैदा करने के लिए ही चुना गया जान पड़ता है- 'भारत में बर्तानवी साम्राज्य का जीवन: मरणोपरांत'। पुस्तक में यत्र तत्र बिखरे सूत्रों को समेटने का प्रयास संतोषजनक नहीं बन पड़ा है। यह विषय जिस एकाग्रचित्त श्रम की दरकार करता है वह भाषा शैली के चमत्कार से पाठक को मंत्रमुग्ध करने में माहिर इस लेखक के बूते की बात नहीं थी। कहीं न कहीं यह दंभ भी झलकता है कि कौन पाठक उनके बराबर पढा लिखा बराबरी का हो सकता है। वह तो भैंस के आगे बीन बजा रहे हैं। पुस्तक के आरंभ में शेक्सपीयर, पोप, कौनराड तथा फौस्टर की पंक्तियां उद्धृत की गई हैं। समझने वाले समझ जाएं जो ना समझें वो अनाड़ी हैं, वाली यह अदा बचकानी लगती है।

पुस्तक एक बार पढ़ने लायक जरूर है वह भी इसलिए ताकि कुछ भूली-बिसरी जानकारियां दोहराई जा सकें। मौलिक शोध पर आधारित लेख तक को पुस्तक के कलेवर में फँलाना सहज नहीं, यह तो वाद-विवाद प्रतियोगिता की लम्फाजी को स्थाई महत्व की किताब की शकल देने के कसरत है। जो दो बातें साफ हैं, वह यह कि भारत में मानक अंग्रेजी प्रकाशक कितने उथले पानी में मोती तलाशने में लगे रहते हैं और कुछ मशहूर हस्तियों के नाम ही इतने बिकाऊ समझे जाने लगे हैं कि उनकी हर रचना टिकाऊ भले ही न हो चर्चा का विषय जरूर बन सकती है। राहुल की कांग्रेस ने जो अन्याय किया है उसको दूर करने की कोशिश शुरू हो गई। □



प्रो. पुष्पेश पंत

आजाद भारत के राजनयिकों में शायद ही कोई मशहूर हस्ती ऐसी हो जिसने अपने 'संस्मरण' प्रकाशित न करवाए हों। केपीएस मेनन से लेकर सुबिमल दत्त, अप्पा पंत, गुणदेविया, टीएन कौल, रसगोत्रा, नटवर सिंह, मणि दीक्षित। कृष्ण मेनन ने स्वयं लिखने का काम नहीं किया, पर माइकेल ब्रेशर के साथ उनकी घंटों लंबी बातचीत नेहरू युग में भारत की विदेश नीति के निर्धारण तथा राजनयिक आचरण पर प्रकाश डालती है। इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए शिवशंकर मेनन ने यह 'छोटी सी पर महत्वपूर्ण' पुस्तक प्रकाशित कराई है, मगर कई मायनों में यह किताब इस तरह के लेखकों द्वारा इस विषय पर लिखी रचनाओं से बहुत फर्क है।

मेनन के साथ लंबे साक्षात्कारों वाली किताब नेहरू युग में विदेश नीति के 'निर्माण' और नीति के स्रोतों से आधारभूत सिद्धांतों को जिस तरह आलोचित करती है, उसकी तुलना बाकी नौकरशाहों के जिंदगीनामों से नहीं की जानी चाहिए। 1962 के बाद से कृष्ण मेनन की छवि नेहरू को गफलत में रखने वाले साम्यवादी एजेंट कमोबेश खलनायक वाली रही है, जो चीन के साथ संघर्ष में शर्मनाक हार के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार समझा जाना चाहिए। बाकी विदेश सचिव हों या राजदूत सभी का प्रयास नेहरू अथवा श्रीमती

च्वाँइसेज : इनसाइड दि मेकिंग ऑफ इंडियन फॉरेन पॉलिसी

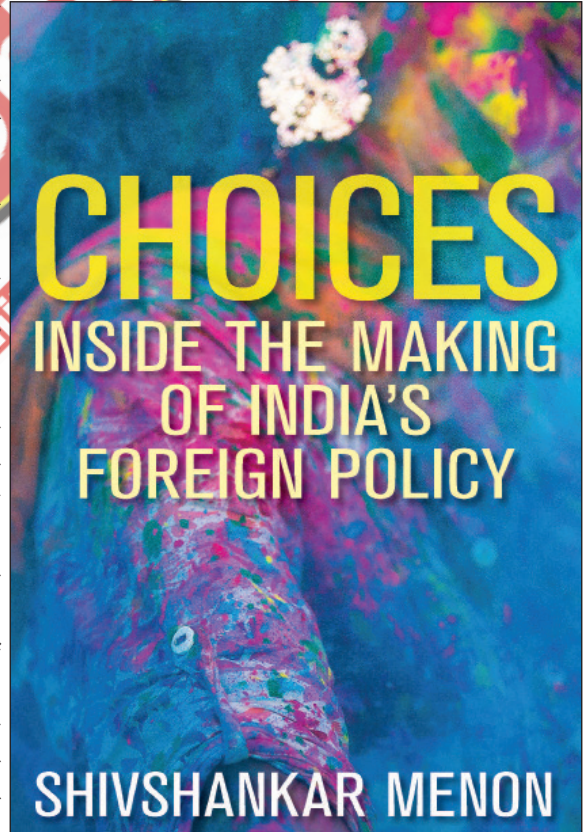
लेखक: शिवशंकर मेनन

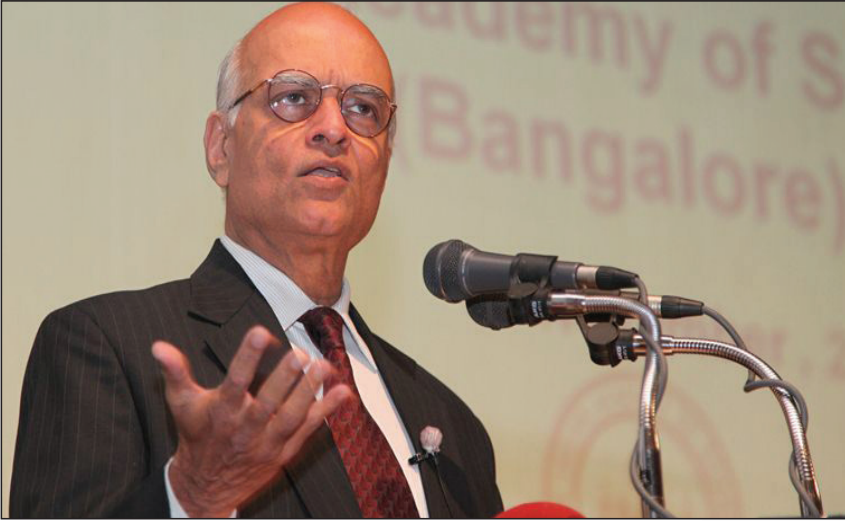
गांधी के साथ अपनी निकटता दर्शाना या अपनी व्यक्तिगत बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन लगता है। किस्सागोई चाहे कितनी ही दिलचस्प क्यों न हो, कथ्य के वजन को बढ़ा नहीं सकती।

भाषा शैली की सरसता और चुस्ती अधिकांश पुस्तकों को रोचक ही बना सकती है, उपयोगी नहीं। नटवर सिंह भारतीय विदेश सेवा की पहली खेप वाले 'रंगरूटों' में रहे हैं और भले ही विदेश सचिव नहीं बने, विदेश मंत्री के रूप में कार्य कर चुके हैं। उन्हें नेहरू परिवार का स्वामिभक्त माना जाता था, जब तक सोनिया गांधी-राहुल से उनका मनमुटाव नहीं हुआ। राजदूत और राजनेता के रूप में उनके संस्मरणों पर भी यह बात लागू होती है।

जेएस दीक्षित को उनके कार्यकाल में असाधारण बुद्धिमान और बौद्धिक रुझान वाला समझा जाता था, पर उनकी पुस्तकें 'छपास' का ही प्रमाण लगती हैं। को. ई नई जानकारी इनसे सुलभ नहीं होती। बचाव में यह कहा जा सकता है कि कोई भी नौकरशाह किसी गोप. नीय तथ्य या जानकारी का प्रकाशन नहीं कर सकता। मगर इसका यह मतलब नहीं कि पाठक को इस जानकारी से वंचित रखा जाए कि किसी फैसले को लेते वक्त पक्ष- विपक्ष में किस तरह

की बहस हुई थी और कौन तर्क स्वीकार किए गए। फैसला अंततः किस स्तर पर लिया गया। शिवशंकर मेनन की पुस्तक की खासियत यही है कि वह अपनी अकलमंदी या अनुभव, राजनयिक कौशल का दस्तावेज नहीं बनती, बल्कि जिन विकल्पों को वह शाश्वत महत्व का समझते हैं, उनके बारे में पिछले दशक के निर्णयों को समझने में सहायक बनती है। कुछ समीक्षकों की शिकायत यह है कि लेखक ने व्यक्तिगत पक्ष को हाशिए पर रखा है, न जाने क्यों?





हमारी समझ में लेखक को इस सच्चाई का एहसास है कि देश की विदेश नीति के बारे में निर्णायक विकल्प नौकरशाह नहीं चुन सकते। यह एकाधिकार प्रधानमंत्री का ही है। विदेश सचिव हो या विदेश मंत्री अथवा हाल के वर्षों में राष्ट्रीय रक्षा सलाहकार इनकी भूमिका विशेषज्ञ विश्वस्त सलाहकार की ही हो सकती है।

हाल ही में प्रकाशित संजय बारू की पुस्तक में इस बात का उल्लेख है कि कैसे यह तमाम सलाहकार प्रधानमंत्री कार्यालय में अपनी हस्ती और कार्याधिकारक्षेत्र को निरंतर बढ़ाने की स्पर्धा में लगे रहते हैं और कैसे इस नौकरशाही प्रतियोगिता से राष्ट्रहित क्षतिग्रस्त होने की संभावना बढ़ती है। विदेश नीति संबंधी फैसलों के 'चश्मदीद गवाह' बहुत सारे कर्मचारी-अधिकारी हो सकते हैं। पर यह सुझाना बचपना है कि सभी अपने योगदान को 'निर्णायक' तराजू के पलड़े को नाटकीय क्षण में इधर या उधर झुकाने का श्रेय ले सकते हैं।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि शिवशंकर मेनन को राजनय विरासत में प्राप्त हुआ है। केपीएस मेनन के नाती और पीएन मेनन के पुत्र होने के साथ ही राम साठे के दामाद हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय में अपने छात्र जीवन में उन्होंने चीनी में एम. ए. किया और अपनी प्रतिभा से मीरा सिन्हा जैसे अध्यापकों को प्रभावित किया, जो स्वयं विदेश सेवा की अफसर रह चुकी थीं।

सरकारी नौकरी के दौरान शिवशंकर मेनन चीन और अमेरिका में भारत के राजदूत रहने के साथ पाकिस्तान तथा श्रीलंका में उच्चायुक्त के रूप में काम कर चुके हैं। विदेश सचिव पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद वह प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार नियुक्त हुए और पिछले दशक के सभी महत्वपूर्ण और विवादास्पद फैसलों में भागीदार समझे जा सकते हैं।

इस पुस्तक का स्वरूप आत्मश्लाघा से भरपूर संस्मरणात्मक किस्सागोई वाला नहीं और नहीं अपनी असाधारण विद्वत्ता का प्रमाण देने वाले सैद्धांतिक प्रवचनों के संकलन का है। लेखक की तटस्थता प्रशंसनीय है, वह पूर्ववर्ती सरकार की तुलना में वर्तमान सरकार को असफल प्रमाणित करने की निरर्थक चेष्टा में श्रम व्यर्थ नहीं करता।

पुस्तक को छह छोटे हिस्सों में बांटा गया है। प्रत्येक अध्याय शीर्षक को सार्थक सिद्ध करता दिखलाई देता है। अलग-अलग अध्याय एक विकल्प पर केन्द्रित है और विस्तार से एक ऐसे 'ऐतिहासिक' फैसले का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं, जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि इसने भारतीय विदेशनीति की दिशा बदल दी। मेनन न केवल नीति निर्णायक मंडली के अंतरंग सदस्य की नजर से अंदरखाने का आंखों देखा हाल पेश करते हैं, बल्कि इसके पहले इस मुकाम तक पहुंचाने वाली ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का भी सार संक्षेप पाठक की

याद्दाश्त दुहराने के लिए करते हैं। जिन पांच विकल्पों को लेखक ने चुना है, उनमें 'अमेरिका के साथ परमाणविक ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग वाला करार', भारत पर पाकिस्तान से प्रायोजित मुंबई पर आतंकवादी हमले के संदर्भ में ईट का जवाब पत्थर से न देने का फैसला, चीन की चुनौती, श्रीलंका में आइपीकेएफ के दुखद अनुभव से सबक तथा परमाणविक अप्रसार के हित में परमाणविक हथियारों के पहले प्रयोग न करने को वचनबद्ध हैं।

हाल के वर्षों में जितने भी राजनयिकों ने किताबें लिखी, छपवाई हैं, उनमें इसे निःसंकोच सबसे अधिक उपयोगी और पठनीय कहा जा सकता है। अपने कार्यकाल में लिए फैसलों, विकल्पों के चुनाव को सही ठहराने का हठ मेनन नहीं पालते। वह बेहिचक यह भी स्वीकार करते हैं कि उनका अपना मन-मत कैसे बदला। वह विदेश मंत्रालय के बाहर कार्यरत उन सभी सहयोगियों के योगदान को सराहते हैं, जिन्होंने किसी विकल्प के चुनाव में निर्णायक भूमिका निबाही-मसलन परमाणविक ऊर्जा के संदर्भ में परमाणविक ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष अनिल काकोदकर।

श्रीलंका में गृह युद्ध और भारत पर उसके प्रभाव वाला अध्याय गागर में सागर भर सकने की प्रतिभा का अद्भुत उदाहरण है। भारत से सिंहलद्वीप पहुंचने- बसने वाले तमिलों की 'लहरें' सदियों के अंतराल से वहां पहुंची हैं। 'जाफना तमिलों' और श्रीलंका के अन्य तमिलों के हित स्वार्थ, अभिलाषाएं-असंतोष एक नहीं रहें। पर उग्र सिंहल राष्ट्रवाद के उफान ने कैसे तमिल समस्या को क्रमशः विस्फोटक सांप्रदायिक रूप दिया। इसको समझने के लिए मेनन की यह पुस्तक बहुत काम की सिद्ध हो सकती है। विदेश नीति के संदर्भ में सही विकल्प चुनना भारत के लिए बेहद कठिन रहा है क्योंकि तमिलनाडु की द्रविड़ पार्टियों की चुनावी राजनीति का जबर्दस्त दबाव केन्द्र सरकार पर लगभग चार दशक से बना रहा है। बड़े कौशल से लेखक ने हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाया है कि श्रीलंका के चोटी के नेताओं के लिए भी हिंसक उग्रवा

दी तमिल विद्रोहियों की चुनौती का सामना जनतांत्रिक तरीके से करना कितना कठिन रहा है। प्रभाकरन की क्रूरता और पाशविक बर्बरता जगजाहिर हो जाने के बाद भी लिट्टे के प्रति तमिलनाडु में व्यापक सहानुभूति और जन समर्थन निरंतर बना रहा। लिट्टे के आतंकवादियों को इस दक्षिणी भारतीय राज्य में शरण सुलभ रहा और इसके चलते भारत तथा श्रीलंका का मनमुटाव बढ़ता गया।

वास्तव में भारत की श्रीलंका नीति की असफलता का बीजारोपण बहुत पहले हो चुका था। लालबहादुर शास्त्री ने जिस श्रीलंका से भारतवशियों की वापसी वाले जिस समझौते पर हस्ताक्षर किए थे, उसने यह गलत संदेश दिया था कि भारत इस पड़ोसी को प्रसन्न रखने के लिए अपने सामरिक हितों की संवेदनशीलता के मद्दे नजर बिना लेन देन के समझौता कर सकता है। शास्त्री जी ने श्रीलंका के साथ भारत के हाड़-मांस के रिश्ते का उल्लेख तो किया, पर भविष्य में सुख-दुख या सपनों तथा संघर्ष की साझेदारी की अनिवार्यता को रेखांकित नहीं किया। इसका नतीजा यह हुआ कि हमारी श्रीलंका नीति तमिलनाडु की दलगत राजनीति के हाथ बंधक बन कर रह गई। पड़ोस में सैनिक बलप्रयोग से सार्थक हस्तक्षेप करने की भारतीय क्षमता के आकलन में निश्चय ही राजीव से भारी चूक हुई। परंतु इस फैसले के लिए सिर्फ पूर्व प्रधानमंत्री को जिम्मेदार ठहराना गलत है। उनके सलाहकारों में अनुभवी राजनयिक जी पार्थसारथी, रोमेश भंडारी सरीखे शामिल थे। इस बात को नकारना भी कठिन है कि आरंभिक दौर में श्रीलंका की सरकार पर तमिल अल्पसंख्यकों के पक्ष में दबाव डालने की रणनीति के तहत ही लिट्टे के कुछ दस्तों को भारत में प्रशिक्षित किया गया था। यही नादानी आत्मघातक साबित हुई। मेनन श्रीलंका के गृह युद्ध का विश्लेषण व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में करते हैं। पाठक को न केवल भारत सरकार की और तमिल नेताओं की अदूरदर्शिता का पता चला है, बल्कि श्रीलंका के विभिन्न दलों की गलतियों की जानकारी भी मिलती है। मेनन इस बात को स्वीकार करते हैं कि लिट्टे का खात्मा

करने वाले अभियान में दोनों ही पक्षों द्वारा निर्दोष नागरिकों के मानवाधिकारों का जघन्य उल्लंघन हुआ, पर वह इस कड़वे सच को सामने रखने से कतराते नहीं कि बिना निर्मम सैन्य संचालन के प्रभाकरन की लिट्टे का उन्मूलन संभव नहीं था।

यहां इस बात को समझना परमावश्यक है कि अपने कार्यकाल के दौरान जिन विकल्पों के चुनाव पर मेनन रोशनी डालते हैं, उनकी तरफ भारत का झुकाव कहिए या रुझान 21वीं सदी के आविर्भाव के पहले ही जाहिर होने लगा था। मेनन खुद इस बात को स्वीकार करते हैं कि चीन के साथ सीमा विषयक 'समझौते' पर हस्ताक्षर मनमोहन सरकार ने किए, उसकी जमीन पीवी नरसिंह राव के प्रधानमंत्री पद पर रहते की जा चुकी थी। विवाद के निबटान को स्थगित कर सरहद पर सीमारेखा-नियंत्रण रेखा के सहकारी प्रशासनिक पक्ष को प्राथमिकता दे कर संकट प्रबंधन का प्रयास राव ने ही किया था।

इसी तरह अमेरिका के साथ परमाणविक ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग की बात रती भर आगे नहीं बढ़ सकती थी, यदि एनडीए-1 के कार्यकाल में जसवंत सिंह तथा स्ट्रॉब टौलबौट के बीच वार्ताओं की श्रृंखला ने परस्पर विश्वास का शिलान्यास नहीं कर लिया होता। परमाणविक अस्त्रों का पहले उपयोग न करने का वचन भी अटल बिहारी वाजपेयी ने ही पोखरण-2 के बाद दिया था। भारत की परमाणविक नीति में यह निरंतरता बरसों से चली आ रही है। भारत परमाणविक अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करने से इंकार इसीलिए करता रहा है कि यह भारत के प्रति दोहरे मानदंड अपनाती है और उसकी संप्रभुता का तिरस्कार करती है। जिम्मेदार परमाणविक राष्ट्र के रूप में उसके आचरण का सही मूल्यांकन नहीं करती। मेनन संक्षेप में इतना ही कह कर संतोष करते हैं कि एटमी हथियार सैनिक नहीं राजनैतिक शक्ति प्रदान करते हैं। इनका सामरिक महत्व राजनयिक ही है। यह समझना जरा कठिन हो जाता है, तब क्यों लेखक इसे 'विकल्प' का नाम देता है?

अमेरिका के साथ परमाणविक करार के बारे में भारत यह भलीभांति जानता है कि अमेरिका जब जी चाहे अपने हितों या स्वार्थों की रक्षा के लिए इस समझौते को रद्द कर सकता है। भारत के अतीत का अनुभव यही सबक सिखलाता है। पर इसके साथ ही मेनन यह जोड़ते हैं कि अगर भारत सायास अमेरिका के साथ अपने रिश्तों को बहुआयामी और घनिष्ठ बनाने में कामयाब होता है तो राष्ट्रीय हितों का सन्निपात इस जोखिम को निश्चय ही काफी कम कर देगा। इस संदर्भ में भी इन पक्तियों का लेखक यह टिप्पणी करना चाहता है कि फिर यहां भी विकल्प कहां शेष है? भूमंडलीकरण के युग में भारत ने राव के शासनकाल में ही जिस आर्थिक उदारीकरण का मार्ग चुन लिया था, उसके बाद पूंजीवादी अमेरिका के साथ सैद्धांतिक मतभेद नाटकीय रूप से घटे हैं। सोवियत संघ के बिखराव ने भारत-रूस की 'विशेष मैत्री' से पैदा होने वाले मनमुटाव तथा टकराव की संभावना बहुत कम कर दी है। 9/11 के आतंकवादी हमले के बाद कम से कम कुछ समय के लिए भारत-पाकिस्तान के विवादों में पाकिस्तान की हिमायत से अमेरिकी सरकार हिचकिचाती नजर आई। कालक्रम में अफ-पाक मोर्चे से अपनी फौज को वापस लौटाने की चिंता ने अमेरिका को भारत की क्षेत्रीय जिम्मेदारी के बारे में उसे सजग करने के लिए उद्यत किया है।

इस बात की थोड़ी सी शिकायत जरूर की जानी चाहिए कि भारतीय विदेशनीति निर्धारण के संदर्भ में जिन विकल्पों का चुनाव भविष्य में जटिल चुनौती पेश कर सकता है, उनमें से कुछ को लेखक ने शायद सिर्फ इसलिए अनदेखा किया है, क्योंकि वह उसके कार्यकाल या व्यक्तिगत अनुभव/विशेषज्ञता के दायरे से बाहर हैं। मसलन आने वाले वर्षों में ईरान और अरब जगत के साथ भारत के रिश्ते अनिवार्यतः अमेरिका और पाकिस्तान तथा चीन के साथ उसके संबंधों को प्रभावित करेंगे। चीन की मदद से पाकिस्तान ग्वाटर बंदरगाह को उन्नत बना रहा है तो इसका 'तोड़' भारत ईरान में चाबहार के पोत के निर्माण में सहकार से करने के

पुस्तक समीक्षा

लिए कोशिश करता रहा है। अमेरिकी दबाव में कभी-कभार भारत ने ईरान पर लगाए गए प्रतिबंधों को चाहे अनचाहे मान्यता दी है, हमारे हजारों साल से चले आ रहे सांस्कृतिक संबंधों के बावजूद। ईरान की शिया आबादी का अरब जगत के सुन्नी बहुल आबादी वाले देशों से कोई साम्य नहीं। अरबी और फारसी सभ्यताओं की सदा अलग पहचान रही है। मात्र इस्लामी कट्टरपंथी के आधार पर हम अमेरिकी चश्मे चढ़ा कर ईरान के साथ अपने रिश्ते तय नहीं कर सकते। यहां एक और समस्या है। हाल के वर्षों में इजरायल के साथ हमारे आर्थिक-सामरिक संबंध घनिष्ठ हुए हैं। उस देश के तथा ईरान के संबंधों में तनाव घटा नहीं है। देर सबेर हमें किसी एक को वरीयता/प्राथमिकता देनी होगी। यह भुलाना असंभव है कि ईरान तेल उत्पादक देश है और हमारी ऊर्जा सुरक्षा के मद्दे नजर भी अहमियत रखता है। आज भले तुर्कमेनिस्तान-ईरान-अफगानिस्तान से बरास्ता पाकिस्तान भारत तक पहुंचने वाली तापी पाइपलाइन का चर्चा नहीं होता, पर ओमान के बंदरगाहों से समुद्र के गर्भ में बिछी पाइप लाइन की संभावना पर विचार विमर्श जारी है।

जाहिर है कि लेखक अरब जगत की उलझी गुत्थी को सुलझाने में भारत की कोई भूमिका नहीं देखता। इसीलिए ईराक, सीरिया, लीबिया, मिस्र आदि से जुड़े विकल्प उपेक्षित रह गए हैं। प्रवासी भारतीयों की जीविका और उद्यमियों के निवेश का जिक्र भी नहीं किया गया है। यह बात रेखांकित करना जरूरी है कि चीन के दक्षिणी चीनी सागर में आक्रामक विस्तार का मुकाबला भारत पश्चिम एशिया तथा अफ्रीकी महाद्वीप में पैर पसारने बिना नहीं कर सकता। पता नहीं क्यों शिवशंकर मेनन निकट या सुदूर भविष्य में इस क्षेत्र में भारतीय आर्थिक एवं सामरिक राष्ट्रहित के संरक्षण-संवर्धन वाले विकल्पों पर टिप्पणी नहीं करते। मोदी द्वारा सत्ता संभालने के बाद पूरब की तरफ देखने से आगे बढ़ कर पूरब में कुछ करने को प्राथमिकता दी जाने लगी है। जापान के साथ भारत के संबंध हों या विप्लवनाम के साथ सहकार इनसे चीन को 'संतुलित' करने का प्रयास हमारे राजनय को गतिशील बनाता रहा है।

सार्क के अवसान के बाद निश्चय ही भारत के लिए म्यांमार और नेपाल को निरंतर अपने साथ रखने की दरकार है। इसे एकतरह की अनिवार्यता समझा जा सकता है। दक्षिण एशिया ही भारत का नैसर्गिक प्रभाव क्षेत्र है। पाकिस्तान के साथ किसी सुलह की संभावना के अभाव में भी इन दोनों पड़ोसियों की संवेदनशीलता हमेशा बनी रहेगी। चीन के साथ हमारे संबंधों के उलझे सूत्र नेपाल, म्यांमार और भूटान से जुड़े हैं और लंबे समय तक रहेंगे। लेखक ने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि इसका उद्देश्य सीमा के राजनैतिक प्रबंधन वाले समझौते के राजनयिक मूल्यांकन तक सीमित रहा है, पर यह तर्कसंगत नहीं। स्वयं काफी विस्तार से लेखक ने इस समझौते की पूर्वपीठिका मेम सीमा विवाद की एतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है।

इसी तरह का एक अन्य उदाहरण है, यूरोप और रूस से जुड़ा। ब्रेक्सिट के पहले से ही यूरोपीय समुदाय के विघटन की आशंकाएं प्रकट होने लगी थीं। ब्रिटेन ही नहीं, फ्रांस तथा जर्मनी के साथ भारत के आर्थिक-तकनीकी संबंधों के सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण विकल्प भी अछूते ही रहे हैं।

लेखक से यह अपेक्षा नाजायज नहीं कही जा सकती कि इसने पुतिन के रूस के साथ भारत के रिश्तों से जुड़े विकल्पों पर भी विचार करना चाहिए था। पाकिस्तान-बांग्लादेश ही नहीं, चीन के साथ भी हमारे राष्ट्रहित निरापद रखने में रूस मददगार रहा है। जब पश्चिमी पूंजीवादी देशों ने टेक्नोलॉजी के हस्तांतरण में हिचकिचाहट दिखलाई थी उस वक्त रूस ने ही उदारता से सहकार की पेशकश की। 1990 के दशक में जब रूस स्वयं राजनैतिक अस्थिरता और सामाजिक उथलपुथल से ग्रस्त था और अराजकता की कगार पर पहुंचा नजर आ रहा था, उसे आर्थिक मंदी की चपेट से उबारने में भारत के साथ सैनिक साज सामान की खरीद और साखालिन में तेल-गैस के सौदे लाभप्रद सिद्ध हुए थे। यह बात तर्कसंगत नहीं लगती कि अचानक भारत अपनी विदेश नीति निर्धारण के संदर्भ में रूस को पूरी तरह भुला सकता है। ब्रिक्स और शांघाई सहकार संगठन जैसे

मंचों में अपनी सदस्यता को भारत गंभीरता से लेता है। हालांकि आज रूस भारत से उस तरह के राजनयिक समर्थन की आशा नहीं करता, जैसे 1970-71 में अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप के समय उसने किया था, तथापि पुतिन की ऊर्कन-क्रीमिया और सीरिया में जिस 'दुस्साहसिक' चुनौती ने अमेरिका को चिंतातुर किया है, उसके बारे में लेखक का मौन भी यही प्रमाणित करता है कि उन्होंने अपना फलक अपने कार्यकाल तक ही सीमित रखा है। यह दावा पूरी तरह खरा नहीं उतरता कि पुस्तक में जिन विकल्पों का विश्लेषण किया गया है, वह भारतीय विदेश नीति की 'सनातन-शाश्वत' चुनौतियों से जुड़े हैं। इस बात का श्रेय लेखक को अवश्य दिया जाना चाहिए कि उसने उस 'नीति-निर्धारक प्रक्रिया' के विभिन्न चरणों को उद्घाटित किया है, जिसने सरकार को 'फैसलों' तक पहुंचाया।

हमारी राय में इस पुस्तक की सबसे बड़ा गुण यह है कि यह हमेशा मुद्दों पर केन्द्रित रहती है और राजनेताओं या नौकरशाहों के व्यक्तित्व, पूर्वाग्रहों या 'मीडिया' में प्रायोजित नूरा कुश्ती सरीखी बहसों में उलझ समय का अपव्यय नहीं करती। भारतीय विदेश नीति के क्षेत्र में 'नरम पंथी' और 'गर्मपंथी' लेखकों की दो अलग जमातें साफ दिखलाई देती हैं। विशेषज्ञ विश्लेषक हों या अवकाश प्राप्त राजनयिक या पदभारमुक्त राजनेता सभी 'सुलह' या 'मुठभेड़' का नुस्खा पाकिस्तान तथा चीन के बारे में सुझाते हैं। शिवशंकर मेनन न तो लड़ाकू बाज हैं और नहीं शांतिदूत कपोत। वह दूसरे चिंतकों के विचारोत्तेजक उद्धरणों को विभिन्न अध्यायों का आमुख तो बनाते हैं, पर किसी एक सूत्र को वेदवाक्य नहीं मान लेते। यह भी ताजी हवा का झोंका सा लगता है कि वह न तो जगह-जगह नेहरू की विदेश नीति विषयक स्थापनाओं को नींव का पत्थर मान कर चले हैं और नहीं कौटिल्य के अर्थशास्त्र या महाभारत के शांति पर्व वाले भीष्म के उपदेश को 21वीं सदी के लिए पथप्रदर्शक दीपस्तंभ समझते हैं।



मणिकांत सिंह

हाल ही में स्वीडन के एक पत्रकार ने एक दिलचस्प जीवनी प्रकाशित की है जिसका शीर्षक है फिरोज: दि फॉरगोटन गांधी अर्थात विस्मृत गांधी। शीर्षक सिर्फ चौकाने वाला ही नहीं बल्कि बहुत कुछ सोचने को मजबूर करने वाला भी है। विडंबना यह है कि हिन्दुस्तान की आधी से अधिक आबादी जिन नौजवानों की है उसे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की याद भी कभी-कभार ही आती है वह भी जब अनुष्ठान जैसे किसी आयोजन पर रस्मादयगी वाला कोई कार्यक्रम होता है। इस देश की कुनबापरस्त राजनीति में जो गांधी परिवार आज अविस्मरणीय है, जिसे सब पहचानते हैं, वह इंदिरा गांधी की संतती वाला ही है। इंदिरा के बाद राजीव गांधी प्रधानमंत्री बने और उनकी हत्या के बाद भारतीय राजनीति में सबसे अधिक चर्चित और विवादास्पद नाम सोनिया गांधी का रहा है। भले ही सोनिया ने प्रधानमंत्री पद स्वीकार नहीं किया पर मनमोहन सिंह के कार्यकाल में तख्त के पीछे की असली ताकत वही थी। नरसिंह राव ने अपने कार्यकाल में उनको हाशिए पर रखने की कोशिश की पर इसके बावजूद पिछले दस-पन्द्रह साल में गांधी नाम का उल्लेख सोनिया-राहुल और प्रियंका की ही याद दिलाता है। सबसे अटपटी बात यह है कि इंदिरा के नाम के साथ गांधी नाम जिस व्यक्ति से विवाह के बाद जुड़ा था उसी को लोग आज पूरी तरह भुला चुके हैं इसी बात को रेखांकित करने का काम इस पुस्तक के लेखक ने किया है।

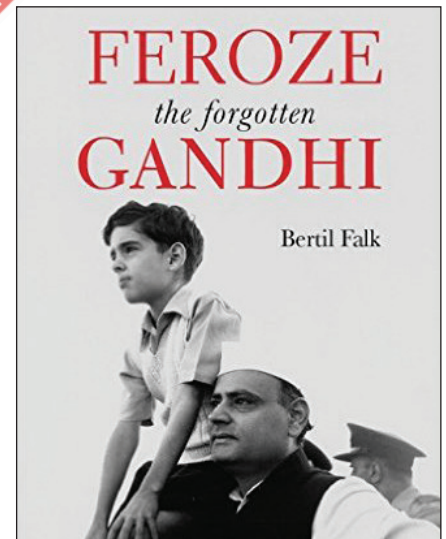
फिरोज द फॉरगोटन गांधी

लेखक: बर्टिल फल्क

इंदिरा का मूल नाम घर पर प्रियदर्शनी रखा गया था और फिरोज गांधी से शादी के पहले तक वह इंदिरा प्रियदर्शनी ही कहलाती रही। यहां एक और बात याद रखना जरूरी है कि इंदिरा के पति की कोई दूर-दराज की रिश्तेदारी राष्ट्रपति से नहीं थी वह गुजराती वैश्य नहीं बल्कि पारसी थे। यह बात सर्वविदित है कि इंदिरा गांधी का वैवाहिक जीवन बहुत सुखी नहीं रहा और विवाह के थोड़े समय बाद ही उन्होंने अपने बच्चों के साथ अपने पिता के घर रहने का फैसला कर लिया। विधुर नेहरू के सरकारी आवास तीनमूर्ति भवन में औपचारिक मेजबानी की भूमिका वही निभाती थी। यह व्यवस्था कुछ ऐसी विचित्र थी, जिसमें सामान्य दामपत्य जीवन बिताना असंभव था। फिरोज गांधी स्वाभिमानी व्यक्ति थे और प्रधानमंत्री के घर में भी घर जवाई बनकर रहने को तैयार नहीं थे। इस सारी बातों का जिक्र नेहरू और इंदिरा गांधी की बहुत सारी जीवनीयों में तथा इनके रिश्तेदारों मित्रों के सस्मरणों में पहले भी हो चुका है और ताजा पुस्तक पारिवारिक जीवन के एक और सनसनीखेज खुलासे के कारण उल्लेखनीय नहीं समझी जानी चाहिए। जहां ओपी मथाई जैसे लोगों ने जो कभी नेहरू के निजी सचिव के रूप में काम करते थे- बड़े अशोभनीय रूप से इंदिरा गांधी के साथ अपनी आत्मीयता का जिक्र किया है और उनके पूरे बयान को अतिशयोक्ति के कारण खारिज किया जा सकता है। यह बात पुपुल जयकर के बारे में नहीं की जा सकती जो इंदिरा गांधी की बरसों घनिष्ठ मित्र रही और जीवन प्रयंत उनकी पक्षधर भी। 'आंधी' नामक फिल्म में इसी प्रसंग को आधार

बनाकर पटकथा लिखी गई थी और तब भी यह चर्चा गरम हुई थी। यह बात भी लगभग चार दशक पुरानी हो चुकी है और किसी को उस व्यक्ति की राजनैतिक भूमिका या महत्व के बारे में जानकारी जुटाने की जरूरत महसूस नहीं होती जिसका किरदार संजीव कुमार ने निभाया था। इसमें पति द्वारा उपेक्षित लगभग परित्यक्त पति की व्यथा तो उभरती है जिसके दुख का कारण अतिशय पुत्री प्रेम से ग्रस्त पिता था जो अपने राजनैतिक उत्तराधिकारी के रूप में उसका अभिषेक करना चाहता था पर कहीं भी यह बात नहीं झलक सकी कि पति की अपनी प्रतिभा और योग्यता या सामाजिक जिम्मेदारी के प्रति जागरूकता कैसी थी?

इस पुस्तक की विशेषता यही है कि फिरोज गांधी की आजादी की लड़ाई के दिनों से लेकर, संविधान निर्माण और स्वाधीन भारत में कांग्रेसी सांसद के रूप में उनके



पुस्तक समीक्षा

योगदान का मूल्यांकन विस्तार से और तटस्थ रूप से किया गया है यह विश्लेषण काफी निर्मम भी है और कही पर भी लीपापोती की कोशिश नज़र नहीं आती कि फिरोज़ की कमज़ोरियों को छुपाया जा रहा है। इसके पहले फिरोज़ गांधी के बारे में जो थोड़ी बहुत जानकारी पाठकों को मिलती थी वह पाइनियर अखबार के पूर्व संपादक विनोद महता की विवादित पुस्तक 'द संजय स्टोरी' में थी। इमरजेन्सी के खलनायक संजय को इस पुस्तक में केन्द्र में रखा गया था और प्रकारांतर से ही उनके पिता का उल्लेख हुआ था। विनोद महता ने यह प्रमाणित करने की कोशिश की थी आरंभ में फिरोज़ गांधी नेहरू परिवार के निकट सिर्फ इसलिए आए कि वह कमला नेहरू को चाहने लगे थे। कमला नेहरू उस समय क्षय रोग से पीड़ित थी और उनके प्रति नेहरू इस लेखक के अनुसार छूत के डर से पत्नी के पास बहुत कम समय बिताते थे अपना लगभग पूरा समय अकेले बिताने के लिए विवश कमला नेहरू अवसाद से घिरी रहती थी और निडर फिरोज़ गांधी ने जिस तरह उनकी देख-भाल और तिमारदारी की उससे अपनी मां को बेहद चाहने वाली किशोरी इंदिरा फिरोज़ से बहुत प्रभावित हुई और कच्ची उम्र में ही उनके प्रति आकर्षित हुई। कुल मिलाकर जो प्रभाव पाठक पर पड़ता है वह इस तरह का है कि मौकापरस्त फिरोज़ गांधी किसी ना किसी तरह आनंद भवन में प्रवेश करना चाहते थे और इसके लिए कमला के संग यह आत्मीयता उन्होंने सोच समझ के साथी थी। इंदिरा मलहोत्रा ने इंदिरा गांधी की जो जीवनी लिखी है उसमें खूबसूरत फिरोज़ गांधी की रंगीन तबियत और आंशिक मिजाज़ी का जिक्र एक से अधिक बार हुआ है। इंदिरा खुद फिरोज़ गांधी के हमनिवाला और हमपियाला थे और इशारे-इशारे में यह बताते नहीं चूकते कि वह हर खूबसूरत महिला पर फिदा होते रहते थे। बहरहाल यह सारी बातें गंभीर रूचि के पाठक के लिए निहायत बेमतलब हैं।

वास्तव में 1950 के दशक में संसद में जो सदस्य सबसे अधिक तेजस्वी और मुखर रहा वह फिरोज़ गांधी ही थे। पहले आम चुनावों में कांग्रेस को प्रचंड बहुमत मिला

था और कोई भी विपक्षी दल लोकसभा में दस प्रतिशत स्थान हासिल कर मान्यता प्राप्त विपक्ष नहीं बन सका था। नेहरू की लोकप्रियता अभूतपूर्व थी और इसीलिए संसद की बहसों लगभग बेमतलब लगने लगी थी। फिरोज़ गांधी कांग्रेस दल के ही सदस्य थे पर वही सरकार से सबसे पैने सवाल पूछते थे। कुछ लोगों को लगता था कि वह अपने ससुर प्रधानमंत्री से इसलिए नाराज हैं कि उन्होंने उन से दाम्पत्य सुख छीन लिया था और इसीलिए वह उन्हें परेशानी में डालने का कोई मौका छोड़ते नहीं। मगर आज इतने बरस बाद अगर हम संसद की बहसों के दस्तावेज़ों को देखें या संविधान निर्माण सभा की कार्यवाही का पूर्वालोकन करें तो यह बात समझने में देर नहीं लगेगी कि कही ना कही विचारों की और तेवरों की एक निरंतरता फिरोज़ गांधी के आचरण में साफ दिखलाई देती है। फिरोज़ गांधी पर यह आरोप लगाना भी जायज नहीं लगता कि सिर्फ प्रधानमंत्री का दामाद होने के कारण ही उनका राजनैतिक जीवन इतनी तेजी से विकसित हुआ और बिना नेहरू के समर्थन के ऐसा नहीं हो सकता था।

पुस्तक के लेखक ने बड़ी मेहनत से यह जानकारी जुटाई है कि अपनी नौजवानी से ही फिरोज़ गांधी कांग्रेस के बड़े नेताओं केशवदेव मालवीय और रफी अहमद किदवाई के साथ जुड़े थे। केशवदेव मालवीय उनके स्काउट मास्टर रह चुके थे और शुरू से ही फिरोज़ की तेजस्विता और जुझारू तेवरों के प्रशंसक रहे थे। इलाहबाद में उनकी अलग पहचान आनंद भवन में पहुंचने के पहले बन गई थी। जब आजादी की लड़ाई के दौरान फिरोज़ गांधी किशोरों-किशोरियों का इन गतिविधियों में भाग लेना सुनिश्चित करते थे उन्हें प्रेरणा देते थे तभी वह इंदिरा-नेहरू के संपर्क में आए जो अपनी मां की प्रेरणा से बानर सेना का गठन कर रही थी। इस बात को अनदेखा करना कठिन है कि जब फिरोज़ विलायत में पढ़ रहे थे तब वह साम्यवादी रूझान वाले कृष्ण मैन्नन के संपर्क में आए थे और उनकी प्रवृत्ति कमोबेश समाजवादी-वामपंथी रूझान वाली जिंदगी भर बनी रही। इस बात का जिक्र जरूरी है कि

1930 के दशक के मध्य में कांग्रेस पार्टी के 'युवातुर्कों' ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया था जो पार्टी के भीतर रहकर ही बुजुर्ग दक्षिण पंथी नेताओं का प्रतिरोध करता था। नेहरू स्वयं इनमें प्रमुख थे पर बहुत जल्दी महात्मा गांधी के प्रभाव में उनका आचरण क्रमशः मध्यमार्गी होता गया और इसी कारण जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया और ई.एम.एस नमोद्रीपाल जैसे नेताओं से उनकी दूरी बढ़ती गई। यह तर्कसंगत है कि नेहरू के साथ फिरोज़ के वैचारिक सैद्धांतिक मतभेद उसी दौर की विरासत है। सिर्फ पारिवारिक कलह के कारण यह 'बहाना' उन्होंने भारत के प्रधानमंत्री के साथ मुठभेड़ के लिए नहीं चुना था।

यदि यह पुस्तक सिर्फ इसी बात तक सीमित रहती कि अबतक बेचारे फिरोज़ गांधी को कितना गलत समझा गया है या उनके साथ नेहरू के वंशवादी भक्तों ने कितना अन्याय किया है तो संभवतः यह पुस्तक इतनी महत्वपूर्ण नहीं होती। हमारी समझ में इस पुस्तक ने फिरोज़ की जीवनी के जरिये तीन ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर तेज रोशनी डाली है जो समसामयिक भारतीय जनतंत्र के अस्तित्व के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इनमें पहला विषय है संसदीय जनतंत्र में विपक्ष की भूमिका जब फिरोज़ ने पहली लोकसभा में यह महसूस किया कि सभी विपक्षी दल अपने चुनावी प्रदर्शन से इतना निराश और हताश थे कि संसद में नेहरू के भाषणों-तर्कों की कोई काट किसी के पास नहीं थी। नेहरू के करिश्माई व्यक्तित्व के सामने दूसरे बड़े नेता बौने नज़र आते थे। अपनी तथा कांग्रेस की नीतियों के बारे में नेहरू जो भी वक्तव्य देते उसे वेद वाक्य समझा जाता था और इसी को मीडिया में स्थान मिलता था। जब फिरोज़ गांधी ने सरकार के काम-काज की पैनी और तर्कसंगत आलोचना शुरू की तो यह खबर असानी से सुर्खियों में जगह पाने लगी। यह सच है कि फिरोज़ के इंदिरा के पति होने के कारण संवाद दाताओं को मिर्च-मसाला लगाने का मौका मिलता था पर यदि तत्कालीन भाषाओं का विश्लेषण करें तो यह बात पता चलती है कि फिरोज़ प्रधानमंत्री

पर कभी भी व्यक्तिगत आक्षेप नहीं करते थे और उनकी आलोचना में तथ्यों का अंबार लगा रहता था। वह जिन सवालों को उठाते थे वह सदा संसदीय परंपरा और सदन के नियम कानूनों के दायरे के अन्तर्गत ही होते थे। यह बात रेखांकित करना इस लिए जरूरी है कि आज सत्तारूढ़ दल चाहे कोई भी हो विपक्ष उसे घेरने के लिए सदन के भीतर हंगामे वाली जो रणनीति अपनाता है और सदन की कार्यवाही में बाधा पहुंचा कर अधिवेशन को स्थगित करने में सफल होता है उससे संसदीय जनतंत्र की उपयोगिता और विश्वसनीयता ही नष्ट होती रही हैं सरकार पर अंकुश लगाने का काम विपक्ष नहीं कर पाता। यू.पी.ए के कार्यकाल से ही यह प्रवृत्ति निरंतर देखने में आ रही हैं। संसद में कोई सदस्य प्रश्न पूछ कर और उसके बाद पूरक प्रश्न उठाकर किस तरह सरकार को व्यूह में घेर सकता है इसका बेहतरीन उदाहरण जीवन बीमा निगम और मूंदड़ा प्रसंग पेश करता है। यह घोटाला सिर्फ कुछ लाख रुपयों का था मगर फिरोज़ गांधी द्वारा नेहरू के करीबी तत्कालीन वित्त मंत्री टी.टी. कृष्णमचारी को इस्तीफा देना पड़ा। अपने इस अभियान में फिरोज़ ने विपक्षी दलों के सदस्यों से बेहिचक सहायता ली थी और किसी आलाकमान का आतंक उनकी जुबान पर ताला नहीं लगा सका था। इन बातों को याद रखना इसलिए जरूरी है कि आजकल जब भी सरकार या उसका कोई मंत्रालय विपक्ष की आलोचना का शिकार होता है तो तत्काल दल के सदस्यों को यह निर्देश मिलता है कि यदि उन्होंने एकजुट होकर, हंगामा मचाकर विपक्ष को सदन में बेबस नहीं किया तो उन्हें अनुशासनात्मक कार्यवाही का निशाना बनना पड़ेगा। दुर्भाग्य यह है कि विपक्ष की बहुत सारी मांगों पर तो मतदान की नोबत ही नहीं आती। शोरगुल के बीच सदन की बाधित कार्यवाही स्थगित हो जाती है और कई बार तो पूरा का पूरा सत्र बेकार चला जाता है। भारतीय जनतंत्र के विद्यार्थियों को आज यह बात इतिहास की पुस्तकों से ही पता चलती है कि विपक्ष के सदस्यों की क्या भूमिका संसद में होनी चाहिए? इंदिरा गांधी द्वारा आपातकाल की

घोषणा के पहले संसद में इनके ऐसे नेता विभिन्न राजनीतिक दलों के थे जो न केवल जुझारु तेवरों वाले थे या जिनकी वैचारिक प्रतिबद्धता पर संदेह नहीं किया जा सकता बल्कि जो संसदीय कार्य प्रणाली में भी पारंगत थे। इनमें हिरेन मुखर्जी, भूपेश गुप्त, जॉर्ज फर्नांडिस, मधुलिमय तो थे ही स्वयं कांग्रेस पार्टी में चन्द्रशेखर, मोहन धारिया और तारकेश्वरी सिन्हा जैसे लोग थे। इसके बाद संसद में विपक्ष का निरंतर अवमूल्यन होता रहा है। इंदिरा गांधी जब अल्पमत में थी तब उन्होंने अपनी सरकार को स्थिर रखने के लिए भारतीय साम्यवादी पार्टी का समर्थन जुटा लिया था। उसके बाद से समर्थन की खरीद-फरोख्त का काम विधिवत किया जाने लगा जिनमें बहुमत हासिल करने के लिए व्यक्तिगत सदस्यों के मत या उन्हें स्थाई रूप से अपने खेमे में लाने के लिए छोटे दलों में फूट डालने का सफल प्रयास किया जाने लगा। इससे दलबदल की जो जानलेवा बीमारी फैली उससे भारतीय जनतंत्र आज तक पीड़ित है। फिरोज़ गांधी की जिंदगी यह दर्शाती है कि सत्तारूढ़ दल को चाहे कितना भी प्रचंड बहुमत क्यों ना मिला हो शिखर ने. तृत्व से असहमत या असंतुष्ट दल के सदस्यों को अपनी राय रखने का मौका मिलना चाहिए और इसे दल के प्रति विश्वासघात नहीं समझा जाना चाहिए। यह बात भी प्रकट होती है कि यदि किसी सैद्धांतिक प्रश्न पर या ऐसे मुद्दे पर जिसमें आमसहमति ना हो उन्हें अपनी अन्तरात्मा की अवाज़ के आधार पर मतदान की स्वाधीनता दी जानी चाहिए। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सदन में चाहे सत्तारूढ़ दल का कितना ही बड़ा बहुमत क्यों ना हो सदन की कार्यवाही नियमों-कानूनों और संसदीय परंपरा के आधार पर ही संचालित होनी चाहिए। सिर्फ बाहुबल के प्रयोग से विपक्ष को चुप करने का प्रयास किसी भी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। दुर्भाग्य से राजीव गांधी के प्रधानमंत्री बनने के साथ ही इन परंपराओं का नष्ट होना आरंभ हो गया। एक बार जब तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉक्टर शंकर दयाल शर्मा पीठासीन थे राज्यसभा में कांग्रेस के सांसदों ने इतना उद्दण्ड और अशालीन आचरण किया कि अध्यक्ष महोदय अपनी असमर्थता के कारण रो पड़े। फिरोज़

गांधी की संसद में सतर्क और समर्थ भूमिका के इस बखान से यह पता चलता है कि यदि अकेला सांसद भी मजबूत रीढ़ वाला और ईमानदार हो तो क्या कर दिखला सकता है। इसके साथ ही हम यह सोचने को मजबूर होते हैं कि पिछले पांच-छः दशक में एक संस्था के रूप में संसद किस तरह कमजोर हुई है। हाल के वर्षों में दो-तीन बार ऐसा हुआ है कि सांसदों पर पैसा लेकर प्रश्न पूछने या मतदान करने के आरोप लगे हैं। झारखण्ड मुक्ति मोर्चा सांसद घूसखोरी प्रसंग हो या वोट के लिए नोट वाला घोटाला इसी के उदाहरण हैं। जब यह दोनों मामले न्यायालय के सामने गए तो न्यायपालिका ने यह कहकर हस्तक्षेप करने से इंकार कर दिया कि सदन के भीतर की कार्यवाही में उसकी कोई भूमिका नहीं और अध्यक्ष का फैसला ही सर्वोपरि है। विडंबना यह है कि यदि अध्यक्ष ही अपनी संसदीय जिम्मेदारी के निर्वाह में लाचार दिखलाई दे तब कोई भी सांसद आखिर क्या कर सकता है? यदि फिरोज़ गांधी आज संसद में होते तो क्या नैतिक जिम्मेदारी के आधार पर उनके प्रहारों को सहने में असमर्थ कोई मंत्री इस्तीफा देता?

आज से आधा सदी पहले जब सूचना के अधिकार वाले विधेयक के बारे में कोई सोच तक नहीं सकता था तब सिर्फ संसद में प्रश्न उठाकर फिरोज़ गांधी ने अपना पराक्रम प्रदर्शित किया था। पुस्तक के लेखक ने बड़े कौशल से यह जानकारी प्रस्तुत की है कि कैसे फिरोज़ गांधी जो कभी पहले स्वयं पत्रकार रह चुके थे सुराग जुटाने के लिए फिर से खोजी पत्रकार बन जाते थे या अपने मीडिया के मित्रों से सहायता लेते थे। यहां एक दूसरा मुद्दा विचारणीय है। आजकल अक्सर यह चर्चा होती है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता संकटग्रस्त है। इसका दोष दो साल पहले गठित मोदी सरकार को ही दिया जाता है। दिलचस्प बात यह है कि सरकार ने मीडिया पर कोई नया प्रतिबंध नहीं लगाया है और नहीं किसी आपातकाल की घोषणा कर अभिव्यक्ति की आजादी के बुनियादी अधिकार को उस तरह संकुचित किया है जैसे इंदिरा गांधी ने 1975 में किया था। उस काले अध्याय के बारे में एकबार लालकृष्ण

पुस्तक समीक्षा

अडवाणी ने टिप्पणी की थी कि जब पत्रकारों से झुकने को कहा गया तो वह खुद ही रेंगने को तैयार हो गए वर्तमान स्थिति भी कुछ ऐसी है जब बिना किसी ऊपरी दबाव के मीडियाकर्मी स्वयं ही आत्मानुशासन या संयम बरतने के लिए उतावले दिखलाई देते हैं। अखबार हो या टी.वी चैनल मीडिया का स्वामित्व बड़े-बड़े औद्योगिक घरानों के हाथ में है जिनके लिए मीडिया एक व्यवसाय है और समाचार पत्र या चैनल एक उत्पाद। इसी कारण खरीदे हुए समाचारों ने (पेड न्यूज़ ने) तटस्थ तथा निष्पक्ष समाचारों को बाहर खदेड़ दिया है। फिरोज़ गांधी स्वयं एक राजनैतिक दल द्वारा स्थापित और संचालित समाचार पत्र के प्रबंधक संपादक थे मगर अपनी राजनैतिक दलगत पक्षधरता को संपादकीय अग्रलेखों तक सीमित रखते थे। निश्चय ही इस संदर्भ में भी फिरोज़ गांधी की भूमिका आज के हालात को दर्पण दिखलाती है और यदि नई पीढ़ी इससे परिचित हो तो इस बात की संभावना बढ़ती है कि देर-सवेर इस स्थिति में सुधार संभव है।

इस पुस्तक ने जिस तीसरे महत्वपूर्ण मुद्दे की ओर हमारा ध्यान खींचने की कोशिश की है वह भारत की संघीय व्यवस्था है। 1957 के चुनावों में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी ने चुनाव जीतकर केरल में सरकार बनाई। नेहरू के अहंकार को इन नतीजों से बहुत ठेस लगी और कांग्रेस पार्टी का यह दंभ चकनाचूर हो गया कि उसे कोई हरा ही नहीं सकता। नेहरू यह नहीं चाहते थे कि कम्यूनिस्ट सरकार केरल में कामयाब हो और शिक्षा स्वास्थ्य और किसानों के अधिकारों से जुड़े उन सुधारों को लागू करे जिनका श्रेय केन्द्र सरकार स्वयं लेना चाहती थी। केरल में साम्यवादियों की जीत ने दुनियाभर में तहलका सा मचा दिया था क्योंकि ऐसा पहली बार हुआ था कि किसी साम्यवादी दल ने सशस्त्र क्रांति से नहीं बल्कि शांतिपूर्ण मतदान से सत्ता ग्रहण की हो। किसी ना किसी तरह इस सरकार को गिराने की मंशा कांग्रेस के बड़े नेताओं की थी स्वयं नेहरू इसके अनिच्छु नहीं थे पर उन्होंने यह चिंता भी थी कि यदि उन्होंने स्वयं कोई पहल की तो उनकी जनतांत्रिक छवि कलंकित हो जाएगी। कुछ समय तक

खीच-तान चलती रही पर अंततः 1960 में उन्होंने अपनी पुत्री इंदिरा की यह राय मान ली कि राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करा दिया जाए। इंदिरा उस समय कांग्रेस पार्टी की अध्यक्ष थी। अपने पिता की तरह किसी भी प्रकार के आदर्शवाद की चिंता उन्हें नहीं थी। फिरोज़ गांधी यह भलीभांति जानते थे कि अपने पिता का मन बदलवाने में इंदिरा की ही भूमिका निर्णायक रही है उन्होंने घर पर नाश्ते की मेज और सार्वजनिक रूप से भी इंदिरा की कड़ी आलोचना इस अजनतांत्रिक फैसले के लिए की और उनके लिए फासीवादी जैसे शब्दों का प्रयोग किया।

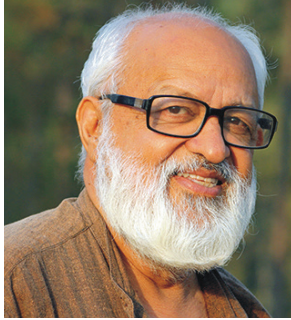
यहां फिर कुछ ऐसी बातें हैं जो आज के भारत के संदर्भ में बारबार याद आती हैं। केरल के बाद 1967-68 तक भारत के राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों का गठन नहीं हो सका था। 1968 में कांग्रेस के खिलाफ देशव्यापी आक्रोश का ज्वार उठा और कई जगह विपक्षी दलों ने मिलकर साझा सरकारें बनाईं। ये सरकारें ज़्यादा समय तक नहीं चल सकीं पर भारत के दक्षिणी राज्य तमिलनाडु और पूर्व में पश्चिम बंगाल में 1970 के बाद कांग्रेस का लगभग सफाया हो गया। तमिलनाडु में द्रविड़ अस्मिता पर आधारित क्षेत्रीय पार्टियाँ द्रविड़ मुन्नेत्र कडगम और उसके विभाजन से उत्पन्न राजनैतिक दल ही सत्तारूढ़ रहे हैं तथा बंगाल में तीन दशक से अधिक अवधि तक साम्यवादी दल सी.पी.एम का ही शासन रहा है। उत्तर भारत के अन्य राज्यों में दल-बदल या राष्ट्रपति शासन लागू कर कांग्रेस ने भले ही अपना वर्चस्व पुनः स्थापित करने की कोशिश की हो और इस कारण केन्द्र सरकार को राज्य सरकारों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा हो यह स्थिति अब बहुत बदल चुकी है। आज न केवल केन्द्र में गैर कांग्रेसी सरकार है बल्कि देश के बड़ी आबादी वाले और बड़े भू-भाग में गैर कांग्रेसी सरकारें ही शासन कर रही हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, इसी का उदाहरण है। पहले यदि केन्द्र में कांग्रेस के शासनकाल में जिन राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें गठित होती थी उनके संबंध केन्द्र के साथ तनावपूर्ण और असहज रहते थे। आज स्थिति काफी उलझी हुई है। केन्द्र

में भाजपाई सरकार का शासन है मगर जिन राज्यों में गैर भाजपाई सरकारें शासन कर रही हैं वे सभी अलग-अलग दलों की हैं जिनमें आपसी मतभेद (वैचारिक-सैद्धांतिक) कम नहीं। मसलन उत्तर प्रदेश में राज कर रही सपा के संबंध बसपा से तो असहज है ही इस समय प्रमुख राजनैतिक विपक्षी दल कांग्रेस से भी उसका बैर है। हाल ही में विमुद्रीकरण विषयक जो फैसला केन्द्र सरकार ने लिया है उसके विरोध में संयुक्त मोर्चा बनाने में विपक्षी दल आम सहमति के अभाव में बुरी तरह नाकामयाब रहे हैं। अधिकांश राज्य सरकारें केन्द्र सरकार से अलग समझौता कर एक विशेष पैकेज जुटाने के लिए ही सक्रिय रहते हैं।

आज भारतीय राजनीति में जिस संघीय व्यवस्था को प्रस्तुत किया गया है उसमें व्यावहारिक अनुभव के आधार पर बहुत बुनियादी फर्क आ चुका है। राष्ट्रपति शासन लागू करना सरकारिया आयोग की सिफारिश के बाद आसान नहीं रह गया है। पर यह नतीजा निकालना तर्कसंगत नहीं कि संघीय व्यवस्था निरापद है। अरुणाचल प्रदेश और उत्तराखण्ड के अनुभव यह दर्शाता है कि हमारे देश में संसदीय परंपराएं आज भी कितनी कमजोर हैं और इनके अभाव में भारतीय जनतंत्र के बारे में बहुत आश्वस्त रहना तर्कसंगत नहीं लगता।

यह पुस्तक इसीलिए महत्वपूर्ण समझी जानी चाहिए कि यह फिरोज़ गांधी के बहाने आज के भारतीय जनतंत्र में असहमति का स्थान और विपक्ष की रचनात्मक भूमिका वाली खामियों को रेखांकित करती है।

राजनैतिक और सामाजिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार के प्रति नागरिकों की उदासीनता या सहनशीलता के बारे में भी तब और अब में तुलना करना चिंता का ही विषय है। इसके अलावा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और संघीय प्रणाली में केन्द्र और राज्य के बीच संबंधों में संतुलन के बारे में भी सोचने को यह पुस्तक हमें मजबूर करती है। पुस्तक पठनीय भी है और उपयोगी भी। यही आशा कि इसके बाद फिरोज़ भूले बिसरे गांधी नहीं रह जाएंगे।



प्रो. पुष्पेश पंत

पाकिस्तान की दुर्दशा का वर्णन और विश्लेषण करने वाली पुस्तकों का कोई अभाव कभी नहीं रहा है। धर्म पर आधारित एक राष्ट्र राज्य के रूप में उसकी असफलता 1971 में जगजाहिर हो चुकी थी। पिछले साढ़े चार दशक में पाकिस्तान का नामोल्लेख असफल राज्य या निरंकुश दुष्ट राज्य के रूप में ही किया जाता रहा है। अमेरिका पर 9/11 वाले अल कायदा के आतंकवादी हमले के बाद से वह अपने पुराने संधिभ्रंश और सहायक अमेरिका का विश्वास खो चुका है और भले ही अफगानिस्तानी मोर्चे की संवेदनशीलता के मद्देनजर अमेरिका उससे आसानी से अपना पल्ला नहीं झाड़ सकता, तथापि पाकिस्तान की संप्रभुता का मिथक स्वयं तोड़ने में अमेरिका को अब कोई हिचक नहीं होती। इस्लामी कट्टरपंथी का जैसा खौफनाक ज्वार पाकिस्तान में उठा है, उसकी वजह से पाकिस्तान न केवल दक्षिण एशिया में, बल्कि पूरे विश्व में दहशतगर्दी को पनाह देने वाले देश की पहचान बना चुका है। चीन के समर्थन के कारण भले ही संयुक्त राष्ट्र पाकिस्तान को आतंकवादी राज्य घोषित नहीं कर पा रहा। इस बारे में अधिकांश विशेषज्ञ एकमत हैं कि पाकिस्तान एक खतरनाक कगार की तरफ फिसलता जा रहा है। उसके विखंडन और विभाजन के बारे में आशंकाएं नाजायज नहीं। परमाणविक तस्करि से एटमी हथियार हासिल कर लेने के बाद पाकिस्तान न केवल भारत के लिए, बल्कि उन सभी पश्चिमी देशों के लिए भी बड़ा खतरा बन

पाकिस्तान : कोर्टिंग दि एबिस

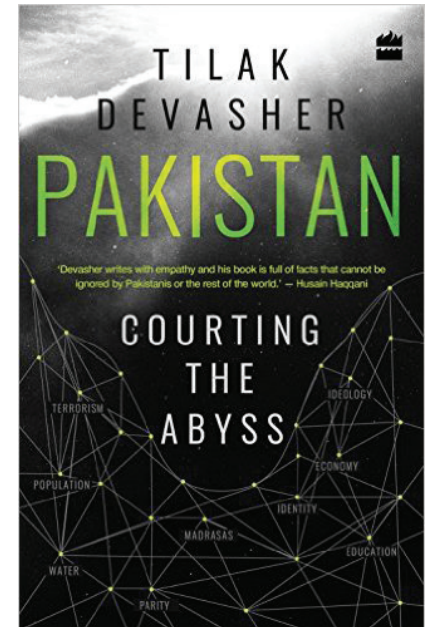
लेखक: तिलक देवेसर

चुका है जो 'जिहादी' कट्टरपंथियों की नजर में इस्लाम के शत्रु हैं। अनेक ऐसे अध्ययन भी प्रकाशित हो चुके हैं जो पाकिस्तान के दीवालियापन उसकी परजीवी अर्थव्यवस्था की एक लाइलाज बीमारी मानते हैं। इन सब लक्षणों के सन्निपात से यही प्रकट होता है कि पाकिस्तान में फौजी तानाशाही को समाप्त कर जनतंत्र की जड़ें मजबूत करने का कोई प्रयास निकट भविष्य में सफल होता नहीं दिखाई देता। यह तमाम बातें भारत में सामान्य ज्ञान का हिस्सा हैं। अतः यह सवाल पूछा जा सकता है कि फिर क्यों तिलक देवेसर को एक और पुस्तक लिख पुराने निष्कर्ष को रेखांकित करने की जरूरत पड़ी?

देवेसर लंबे समय तक भारतीय खुफिया संगठन में नौकरी कर चुके हैं और पाकिस्तान पर पैनी नजर रखते रहे हैं। जहां उनकी पुस्तक दूसरे लेखकों की रचनाओं से भिन्न है, वह यह है कि न तो वह कार्यरत या सेवा निवृत्त राजनयिक हैं और न ही सैनिक-सेनानायक। वह पाकिस्तान की 'समस्या' को न तो विशुद्ध राजनयिक चश्मे से देखते हैं, न रणक्षेत्र में किसी मुठभेड़ की संभावना का आकलन करते सेनानायक के नजरिए से। उनकी यह पुस्तक किसी अकादमिक शोधकर्ता की तरह उपलब्ध स्रोतों-साक्षात्कारों पर आधारित भी नहीं, जो अपनी दिलचस्पी के समाज विज्ञानी विषय के अनुशासन के अंतर्गत ही मौलिक अंतर्दृष्टि तलाशता है। यह सुझाना तर्कसंगत है कि इन सभी विधाओं-शैलियों का संगम इस किताब में किया गया है।

पुस्तक में कुल सात अध्याय हैं, जिनमें चार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें एक मदरसे पर केन्द्रित है। मजहबी कट्टरपंथी को भड़काने में मदरसों की भूमिका अहम रही है। इन 'शिक्षण संस्थाओं' की राजनैतिक ताकत निरंतर बढ़ती गई है। आधुनिक राज्य के रूप

में पाकिस्तान का विकास अगर नहीं हो सका है तो मदरसे ही इसका प्रमुख कारण हैं। 1960 वाले दशक तक अमेरिकी समाजशास्त्री यह सुझाने में व्यस्त रहे कि सेना किसी भी समाज के आधुनिकीकरण का उपकरण होती है। हथियारों का प्रयोग हो या उनका रखरखाव या अनुशासन की अनिवार्यता सेना के सामने कोई विकल्प नहीं छोड़ती। विभाजन के वक्त चोटी पर बिराजन वाले पाकिस्तानी (और भारतीय) जनरल ब्रिटेन में प्रशिक्षित थे और सेना के विकास को पश्चिमी मॉडल को आदर्श समझते थे। बरसों तक मदरसे में साक्षर बने सिपाहियों द्वारा शासित जनता तथा अफसरों को शासक वर्ग का सदस्य समझा जाता था। जनरल जिया के शासन काल से सेना की सामाजिक संरचना में बुनियादी फर्क हो चुका है। आज मदरसे से निकलने वाली जमात न केवल जवानों तक सीमित है, बल्कि बहुत सारे अफसर और कुछ जनरल तक इसी जमात के हैं। यह स्वाभाविक है कि मदरसों





के प्रति इनकी हमदर्दी हो। पहले कहा जाता था कि पाकिस्तानी सेना कट्टरपंथी पनपाने वाले मदरसों के साथ जियो और जीने दो की नीति अपनाने को मजबूर है। आज इस भरम से छुटकारा पाने की दरकार है। सेना के एक असरदार और उदीयमान तबके को मदरसों का संरक्षक सहयोगी समझना ही व्यवहारिक यथार्थ है। एक और बात याद रखना आवश्यक है- धर्म के आधार पर निर्मित इस कृत्रिम राष्ट्र राज्य में धर्म प्रचारक मदरसों पर अंकुश लगाया जाना असंभव है। उल्टे मौलवी, मुल्ला ही निर्वाचित सरकार को शरीयत कानून के रास्ते पर चलते रहने के लिए चाबुक फटकारते रहते हैं। विडंबना यह है कि पाकिस्तानी मदरसों में जिन उलेमाओं का दबदबा है, वह भारत के देवबंद, नदुवा तथा बरेलवी मदरसों की ही पौध हैं। धर्म निरपेक्ष भारत खुद को इस मानसिकता के संक्रमण से निरापद नहीं समझ सकता।

जल सुरक्षा पर केन्द्रित अध्याय खासा विचारोत्तेजक है। इधर भारत-पाकिस्तान के रिश्तों में तनाव बढ़ने के साथ 1960 में संपन्न सिंधुनदी जलसंधि चर्चित रही है। इसी सिलसिले में लोगों का ध्यान पाकिस्तान में व्याप्त जल संकट की ओर गया है, अन्यथा यह विकराल समस्या अनदेखी ही रही है। पाकिस्तान भारत की तरह ही कृषि प्रधान देश है। उसके निर्यात का बहुत बड़ा हिस्सा खेती पर आधारित है। हम बहुधा यह भूल जाते हैं कि सिंचाई के लिए कितने बड़े पैमाने पर पानी की जरूरत होती है। लेखक ने एक छोटे से उदाहरण से पाकिस्तान की जल आपदा को उद्घाटित किया है। एक सूती टी शर्ट और जीन्स पतलून बनाने के लिए 1 किलो कपास की जरूरत होती है।

इसे पैदा करने के लिए 13000 लीटर पानी चाहिए। यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि विभिन्न सूबों की पेय जल आपूर्ति का संकट कैसे विषम जल वितरण से प्रभावित होता है। सिंचाई वाली खेती मुख्यतः पंजाब तक सीमित है। यह संयोग नहीं कि सेना और सरकार में पंजाब का दबदबा है। पंजाब में बड़े-बड़े भूपति जागीरदार हैं और इनके स्वार्थों की रक्षा को राजनीति में प्राथमिकता मिलती रही है। सिंध जैसे सूबों की यह शिकायत वाजिब है कि पहले ही रेगिस्तानी इलाके में होने से उन्हें जलाभाव का सामना करना पड़ता है। ऊपर से उपलब्ध जल संसाधनों का असंतुलित वितरण उनके विकास को अवरुद्ध करता रहा है। पानी की समस्या इतने तक ही सीमित नहीं। तात्कालिक जरूरतों की आपूर्ति के लिए पाकिस्तान बरसों से भूगर्भ में अदृश्य जलाशयों से पानी निकालती रही है। बिना यह सोचे कि यदि यह सूख गए तो क्या होगा? क्रमशः मरुस्थलीकरण बढ़ रहा है और इसके कारण बेरोजगारी, हताशा और आक्रोश पनप रहे हैं। नौजवान नशाखोरी, अपराध, असामाजिक आचरण और आतंकवाद की तरफ आकर्षित हो रहे हैं। सेना पर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि उसने पानी की चोरी में खुल्लम-खुल्ला हाथ बंटया है। नहरों से पानी निकाल उन फार्मों तक नाजायज तरीके से पहुंचाया जाता है जो सेना के अफसरों को खुशहाल रखने के लिए स्थापित किए गए हैं। देवेसर इस अध्याय में बड़े बांधों के सरोवरों में रेत भरने से उनकी क्षमता में कमी का उल्लेख भी करते हैं। यहां एक बार फिर यह रेखांकित करने की जरूरत है कि यह समस्या अकले पाकिस्तान की नहीं तथा भारत इससे अपरिचित नहीं। एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों के अनेक देश अभूतपूर्व सूखे की चपेट में हैं। किसानों की आत्महत्या हो या बड़े पैमाने पर आंतरिक शरणार्थियों के पुनर्वास की चुनौती इनका कोई आसान समाधान नहीं। दक्षिण एशिया उपमहाद्वीप में अनेक नदियों का जल अंतर्राष्ट्रीय सीमारेखा के आर-पार प्रवाहित होता है, इसलिए जल विवादों को निपटाना राजनयिक प्राथमिकता बन जाता है।

पाकिस्तान में पानी के संकट को शिक्षा, अर्थव्यवस्था की कमजोरी और आबादी के स्वरूप में बदलाव के साथ जोड़ कर समग्रता

से विश्लेषण का लेखक का मौलिक प्रयास प्रशंसनीय है। इन चार आध्यायों को वह 'वीप' नाम देते हैं- वाटर, एजूकेशन, इकोनॉमिक स्ट्रक्चर और पॉपुलेशन डिविडेंड। अंग्रेजी में इस संक्षेपाक्षर में श्लेष की गुंजाइश है- वीप माने रोना। लेखक का संकेत है कि यही चार आने वाले समय में पाकिस्तान के विलाप का कारण बनेंगे।

पाकिस्तानी अर्थव्यवस्था की संरचनात्मक कमजोरियों का वर्णन लेखक ने आम आदमी की समझ में आने वाले तरीके से किया है। आंकड़ों के मकड़जाल को फैलाने का लालच छोड़ सिर्फ उन चीजों का उल्लेख किया गया है जो समस्या की विकरालता का आभास ही नहीं कराती, बल्कि यह भी रेखांकित करती हैं कि क्यों इन कमजोरियों से पाकिस्तान निजात नहीं पा सकता। मसलन पाकिस्तान की सरकार करों की उगाही से जो कमती है, प्रति वर्ष उसका 44 प्रतिशत पुराने उधार के सूद के रूप में चुकाना पड़ता है। पाकिस्तान जिस भारी उधार के बोझ से दबा है, उसका एक तिहाई विदेशी ऋण है जो पाकिस्तान की स्वाधीनता को संकुचित करता है और आर्थिक विकास को असंतुलित भी। खरबों रुपयों के उधारी कारोबार के कारण बैंकिंग प्रणाली चरमरा रही है। यहां फौजी तानाशाही तथा राजनैतिक भ्रष्टाचार का जिक्र नहीं किया जा रहा है। लेखक की नजर में पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था की संरचनात्मक कमजोरी सामरिक सुरक्षा को सर्वोपरि प्राथमिकता देना है। यों सभी राज्य अपनी एकता और अखंडता को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं, पर यथार्थ में युद्ध कालीन संकट में ही अर्थव्यवस्था का संचालन सामरिक संवेदनशीलता के दबाव में होता है। बुनियादी ढांचे का विकास, शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर होने वाले खर्च को देश की उस ताकत का अभिन्न भाग समझा जाता है जो किसी शत्रु का प्रतिरोध करने में उसे सक्षम बनाती है। पाकिस्तान में फौज इतने लंबे समय से सत्ता पर काबिज रही है कि सरकार की मानसिकता 'विकासशील राज्य' (डेवेलपमेंट स्टेट) की नहीं, वरन 'सुरक्षा राज्य' (सिक्यूरिटी स्टेट) वाली पुख्ता हो चुकी है। शीत युद्ध के युग से आज तक पाकिस्तान इस बारे में आश्वस्त रहा है कि अमेरिका और पश्चिमी खेमा उसे आर्थिक

सहायता देता रहेगा। तेल उत्पादक इस्लामी देशों की हमदर्दी का दोहन करने में भी कभी कसर नहीं की गई। कठिनाई यह है कि इस आर्थिक सहायता का पैमाना चाहे कितना ही बड़ा रहा हो, इसका कोई वास्तविक लाभ पाकिस्तान को नहीं हो सका है, न हो सकता है। इस धनराशि का दुरुपयोग शासक वर्ग ने अपने को मालामाल करने के लिए किया या फिर हथियारों के जखीरे जुटाने के लिए। अगर पाकिस्तान अपने नागरिकों के कल्याण की शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के लिए जरूरी खर्च करने में असमर्थ रहा है तो इसके लिए यही बुनियादी 'संरचनात्मक' कमजोरी जिम्मेदार है। उस देश में अमीर और गरीब के बीच की खाई कितनी गहरी है, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि पाकिस्तान के 18000 सबसे अमीर आदमियों की वार्षिक आय औसत व्यक्ति की वार्षिक आय से लगभग 75 गुना है। हम यहां एक बार फिर यह जोड़ना परमावश्यक समझते हैं कि पाकिस्तान की दुर्दशा से भारत को पुलकित होने की जरूरत नहीं। ठंडे दिमाग से सोचने की बात यह है कि क्या इसी तरह की दर्दनाक गैर बराबरी हमारे यहां नहीं? क्या यह भी सच नहीं कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली भी राजनैतिक दबाव जनित दैत्याकार भ्रष्टाचार का शिकार नहीं? हम पाकिस्तान की तरह विदेशी ऋण के तले दबे नहीं हैं, पर क्या हम स्वयं को तब तक निरापद मान सकते हैं, जब तक काले धन की समानांतर अर्थव्यवस्था हमारी 'संरचनात्मक' कमजोरी बरकरार रहती है? क्या हम अपनी आय का उतना बड़ा हिस्सा सामाजिक विकास में कर रहे हैं, जितना आवश्यक है? क्या सामरिक चुनौतियों का सामना करने के बहाने शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार पैदा करने वाले खर्च में निरंतर कटौती बढ़ती नहीं जा रही? इन सवालों को सिर्फ पाकिस्तान के संदर्भ में उठाना नादाना ही कहा जा सकता है।

शिक्षा के क्षेत्र में गुणवत्ता की उपेक्षा चिंताजनक है। पाकिस्तान में मदरसों के अलावा भी स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में कट्टरपंथी के संक्रमण ने शिक्षा के स्तर को प्रभावित किया है। मजहबी अंधविश्वास दकियानूसी से एक बार समझौता करने के बाद वैज्ञानिक सोच या मौलिक शोध की बात

करना बेकार है। शिक्षा में गिरावट के कारण अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा तर्कसंगत संवाद की गुंजाइश भी नहीं रहती।

इस पुस्तक की खासियत यह है कि लेखक ने पाकिस्तान के बारे में जिन स्रोतों को आधार बनाया है, उनमें अधिकांश पाकिस्तान सरकार के प्रामाणिक स्रोत हैं। इनके अलावा जिन विद्वान् विश्लेषकों की रचनाओं से आलोचनात्मक उद्धरण पेश किए गए हैं, वह भी ज्यादातर प्रसिद्ध पाकिस्तानी विद्वान ही हैं। लेखक पर यह आक्षेप लगाना सहज नहीं कि भारतीय खुफिया संगठन में काम कर चुका अधिकारी पाकिस्तान के विरुद्ध विष वमन वाले दुष्प्रचार के अभियान को संचालित कर रहा है। अमेरिका में पाकिस्तान के राजदूत के पद पर काम कर चुके हुसैन हक्कानी ने बेहिचक यह बात स्वीकार की है कि लेखक की सहानुभूति पाकिस्तान के (अवाम) साथ है।

अंत में शायद यह याद दिलाना भी उपयोगी होगा कि पाकिस्तान एक समरस राजनैतिक इकाई नहीं। भारत की ही तरह विविधता से भरा राज्य है। बांग्लादेश के स्वाधीन होने के बाद भी विभाजक विभिन्नता पाकिस्तान के शासकों के लिए परेशानी का सबब रही है। पश्चिमोत्तरी सीमावर्ती सूबा, बलूचिस्तान, सिंध सभी की अलग पहचान है। पंजाब से इनका नाता पाकिस्तान का हिस्सा होने के कारण ही है। इसके अलावा मुहाजिर (भारत से पहुंचे उत्तर-प्रदेश, बिहार, देखन के मुसलमान) आबादी के कारण सामाजिक तनाव कम नहीं। हाल के वर्षों में सुन्नी इस्लाम का ही आधिपत्य धर्म के क्षेत्र में रहा है। शिया ही नहीं, अन्य बोरा, इस्माइली, अहमदिया मुसलमान भी इस इस्लामी राष्ट्र राज्य में शोषित-उत्पीड़ित 'अल्पसंख्यक' ही समझे जाते रहे हैं। बहुसंख्यक सुन्नी समुदाय में भी स्त्रियों को भयंकर गैरबराबरी का सामना करना पड़ता है। यह सब बातें यहां इसलिए नहीं दोहराई गई हैं कि भारत की तुलना में पाकिस्तान को पिछड़ा-निकृष्ट साबित किया जा सके। पाकिस्तान वह दर्पण है जो हमें भारत में अपना क्रमशः क्षत-विक्षत कुरूप और निर्मम होता चेहरा देखने का अवसर भी देता है। असहिष्णुता हो या अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का क्षय, जनतांत्रिक संस्थाओं का

अवमूल्यन हो या मानवीय मूल्यों का क्षय, यह चुनौती भारत के सामने भी वैसी ही है, जैसी पाकिस्तान में। कगार से बहुत दूर कोई भी नहीं।

यदि आज के पाकिस्तान की असलियत को समझना चाहें और आपके पास सीमित समय हो तो इन पंक्तियों के अनुसार यही एक पुस्तक काफी है। इसके प्रारंभिक अध्यायों में सरस तरीके से उस ऐतिहासिक घटनाक्रम का सर्वेक्षण किया गया है, जिसने दो राष्ट्रों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वास्तव में यह घटनाक्रम औपनिवेशिक शासकों की 'फूट डालो और राज करो' वाली साजिश के तहत सुनियोजित तरीके से संचालित हुआ, जिसे 1857 की उथल-पुथल के बाद सामरिक महत्व को समझा गया। आधुनिक-पश्चिमी शिक्षा के प्रसार ने कैसे इस अभियान को प्रभावित किया, यह समझना आज जरूरी है। साझे की सांस्कृतिक विरासत कैसे नष्ट की गई और कैसे संवैधानिक सुधारों के नाम पर चुनावी राजनीति में सांप्रदायिक तथा जातीय 'पहचान' को ही सबसे महत्वपूर्ण बना दिया गया, इसका अहसास निरंतर बना रहना परमावश्यक है। यह मानसिक विभाजन ही आगे चलकर देश के रक्तरंजित भौगोलिक बंटवारे के लिए जिम्मेदार बना। यह सारी बातें स्कूली पाठ्यपुस्तकों में दर्ज हैं, पर इन्हें इतिहास का वर्णन भर समझना घातक सिद्ध हो सकता है। इतिहास के इन सबकों को भुलाने के कारण ही पाकिस्तान कगार की तरफ तेजी से सरकता-फिसलता जान पड़ता है। पहले दो अध्यायों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का 'निचोड़' प्रस्तुत कर लेखक ने आम पाठक का काम आसान कर दिया है। अंतिम दो अध्याय पाकिस्तान की भारत के साथ स्पर्धा-किसी भी कीमत पर बराबरी की चेष्टा, अफगानिस्तान में उसके हितों तथा अमेरिका और चीन के साथ उसके रिश्तों की पड़ताल करते हैं। यहां भी लेखक मात्र तिथिक्रम या सर्वविदित तथ्यों को दुहराकर पुस्तक को बोझिल नहीं बनाता। विश्लेषण को ही अहमियत दी गई है। भविष्य के बारे में लेखक के सभी निष्कर्षों से सहमत होना आवश्यक नहीं। पुस्तक विचारोत्तेजक है, सारगर्भित भी, यही काफी है।



मणिकांत सिंह

माओवाद और नक्सलवाद संबंधी शोध पर आधारित पुस्तकों का प्रकाशन हमेशा बहसों को जन्म देता रहा है। कभी लेखक की पक्षधरता के कारण शोध को पूर्वाग्रहग्रस्त और प्रदूषित करार दिया जाता है तो कभी पत्रकार के शोध में अकादमिक अनुशासन का अभाव उसका दोष दर्शाया जाता है। नदिनी सुंदर की इस पुस्तक पर यह लांछन नहीं लगाए जा सकते। वह लगभग तीन दशक से बस्तर के आदिवासियों के बीच काम कर रही हैं और बस्तर के नृशास्त्रीय इतिहास की अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान हैं।

इससे पहले अरुंधति रॉय का बस्तर का सफरनामा 'वैकिंग विद दे कौमरेड्स' बस्तर की असामान्य स्थिति को जगजाहिर कर चुका है, पर अरुंधति का उपन्यासकार होना इस सामग्री के दस्तावेजी महत्व को कम करता है। उनके लेखन में तथ्यात्मक विवरण और उग्र आक्रामक पक्षधर वैचारिक प्रवचन में अंतर करना पाठक के लिए कठिन है। राहुल पंडिता, नीलेश मिश्र जैसे पत्रकारों ने भी बस्तर के आंखों देखी रिपोर्ट प्रकाशित कराए हैं, पर चर्चित होने के बावजूद किसी ने ऐसे विवाद को जन्म नहीं दिया जैसे 'दि बर्निंग फॉरेस्ट' ने। नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन इसे इस दौर की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक घोषित कर, हर जागरूक नागरिक को इसे पढ़ने की सिफारिश कर चुके हैं। यही राय राम गुहा तथा मशहूर समाजशास्त्री शिव विश्वनाथन की है।

इस पुस्तक की लेखिका नदिनी सुंदर दिल्ली विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की प्रोफेसर हैं और समाजशास्त्रियों के बीच उनकी

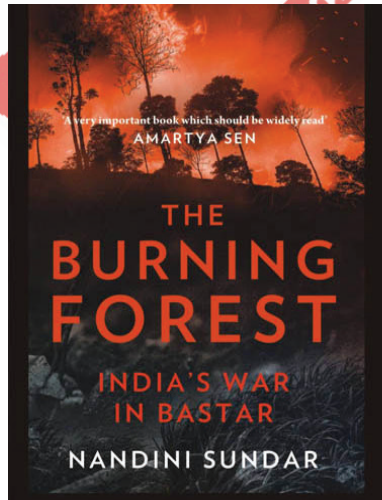
दि बर्निंग फॉरेस्ट : इंडियाज वार इन बस्तर

लेखक: नदिनी सुंदर

पहचान समर्थ शोधकर्ता की है जो पिछले कई दशक से आदिवासी जीवन का अध्ययन कर रही हैं। इसीलिए जब यह समाचार प्रकाशित हुआ कि छत्तीसगढ़ की पुलिस ने उन्हें हत्या और हत्या की साजिश के आरोप में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की एक अन्य प्रोफेसर के साथ गिरफ्तार कर लिया है तो पाठक स्तब्ध रह गए। उन्हें छत्तीसगढ़ के पुलिस महानिरीक्षक कल्लूरी ने पहले भी चेतावनी दी थी कि वह माओवादियों का समर्थन करने बंद कर दें और उनके शासन द्वारा दमन के अभियान को मानवाधिकारों के उल्लंघन का मामला बनाने से बाज आए। यह स्मरणीय है कि प्रसिद्ध लेखक राम गुहा के साथ नदिनी सुंदर ने ही 'सेलवा जुदुम' के विरुद्ध वह याचिक दायर की थी, जिसकी सुनवाई के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार द्वारा प्रायोजित इस संगठन को गैर कानूनी करार दे दिया था। नदिनी की गिरफ्तारी इस पुस्तक के प्रकाशन के तत्काल बाद की गई, जिससे यह संदेह स्वाभाविक है कि उनकी जमान पर लगाम लगाने में असमर्थ राज्य

सरकार ने बदले की भावना से यह आरोप उन पर लगाया है। फिलहाल लेखिका को जमानत पर रिहाई मिली है और सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्देश दिया है कि बिना उन्हें सूचित किए नदिनी या दूसरी अभियुक्त को हत्या के आरोप में गिरफ्तार न किया जाए। यह पुस्तक इसलिए महत्वपूर्ण नहीं कि वह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के हनन के प्रयास को बेनकाब करती है, बल्कि इसलिए भी पठनीय समझी जानी चाहिए कि भारत में अतिवामपंथी हिंसा, उपद्रवी विप्लव के विस्फोट के बुनियादी कारणों पर भी प्रकाश डालती है।

पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के मत में माओवादी आतंकवादी देश की सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा थे/हैं- पाकिस्तान और चीन से भी अधिक। इस राय से सहमत हुए बिना भी यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि माओवादी चुनौती विकट है। दशकों से उपद्रवग्रस्त राज्यों की सरकारें इसपर काबू पाने में असमर्थ रही हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, बंगाल, छत्तीसगढ़, ओडिसा, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र तथा आंध्र प्रदेश आदि



राज्य माओवादियों से जुड़ रहे हैं। कुछ समय पहले तक जब नेपाल में माओवादियों ने हिंसा का मार्ग त्यागा नहीं था, एक मुक्त लाल पट्टी का खौफनाक साया सरकारों के ऊपर मंडरा रहा था। हिंसा पीड़ित क्षेत्र में 'क्रांतिकारी गलियारा' उपद्रवी तत्वों को एक राज्य की सीमा पारकर पड़ोसी राज्य में शरण लेने, दुर्गम जंगली इलाके में अपने शिविर स्थापित करने की सहूलियत प्रदान करता था। अपने नागरिकों के विरुद्ध सेना को तैनात करने में केन्द्र सरकार हिचकियाती रही थी और शांति एवं सुव्यवस्था बरकरार रखने की जिम्मेदारी राज्य सरकारों को ही सौंपी गई थी। स्थानीय पुलिस की सहायता के लिए बड़े पैमाने पर केन्द्रीय आरक्षी बल (सीआरपी) एवं विशेष रूप से प्रशिक्षित कमांडो तैनात किए जाते रहे हैं। इसके बावजूद 'लाल गलियारे' को नकशे से मिटाया नहीं जा सका है। छत्तीसगढ़ में 'सेल्वा जुदुम' का गठन इसीलिए किया गया था। इसकी प्रेरणा उन प्रति-आतंकवादी सैनिक अभियानों से ली गई थी जिनको अंग्रेजों ने मलाया में और बाद में भारत सरकार ने मिजोरम में अपनाया था। इस रणनीति के दो पक्ष थे। एक गांववालों को एक घेरा बंद सुरक्षित शिविर में जबरन बसाना, ताकि उनकी रक्षा माओवादियों से की जा सके। दूसरा अतिवामपंथी दहशतगर्दों का मुकाबला करने के लिए गांव वालों को हथियारबंद करना, उन्हें विशेष पुलिस अफसर का दर्जा देना। इन स्थानीय भूगोल की जानकारी रखने वाले 'स्वयंसेवकों' की सहायता से ही सहसैनिक बल घने जंगलों में गश्त लगा उपद्रवियों के ठिकाने पर हमला कर उनका सफाया करते थे। जाहिर है कि माओवादी इन 'सेल्वा जुदुम' वालों को घर का भेदिया और मुखबिर मानते थे। मौका मिलते ही उन्हें और उनके परिवार के निर्दोष सदस्यों को पाशविक यंत्रणा देकर दूसरों को सबक सिखाने के लिए मौत के घाट उतार देते थे। अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए 'सेल्वा जुदुम' भी माओवादियों को नृशंसता से मारता था, ताकि इसके बाद कोई ग्रामीण उनका साथ देने का दुस्साहस न करे। नदिनी सुंदर ने तटस्थता का पूरा निर्वाह करते हुए सेल्वा जुदुम के जन्म, विकास और 'अवसान' का वर्णन विश्लेषण किया है जो 'काउंटर इनसर्जेंसी' का अध्ययन करने वाले सामरिक विशेषज्ञों के लिए उपयोगी है। किसी भी युद्ध में हार जीत के लिए हथियारों के

अलावा मनोवैज्ञानिक ताकत या कमजोरी भी कैसे निर्णायक भूमिका निभाती है, इसका पता पुस्तक के इस हिस्से से चलता है।

देश की राजधानी से दूर जारी इस खून खराबे को समाचारों की सुर्खियों में तब ही जगह मिल पाती है, जब कोई बड़ा हादसा होता है। मसलन दर्जनों सिपाहियों की एकसाथ हत्या या किसी बड़े नेता का निशाना बनाया जाना। इस बात पर विचार करने का समय किसी को नहीं मिलता कि इस समस्या की जड़ें कहाँ और कितनी गहरी छिपी हैं? इस पुस्तक की एक खूबी यह भी है कि सरकारी तंत्र के विरुद्ध आदिवासी आक्रोश के हिंसक विस्फोट के पीछे का अदृश्य अर्थशास्त्र भी वह बखूबी समझाती है। इस किताब का विषय भले ही छत्तीसगढ़ है झारखंड, ओडिशा और आंध्र प्रदेश आदि के बारे में भी यह 'सच' उतना ही सटीक है। जंगलाती तथा खनिज संपदा के अपार भंडार आदिवासी क्षेत्र में हैं। बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना का प्रतिरोध होता रहा है, क्योंकि इससे वनवासी-आदिवासी अपनी जन्मभूमि से बिछड़ने के साथ-साथ बेरोजगार तो होते ही हैं, अपनी पारंपरिक जीवन शैली को भी सदा के लिए गंवा देते हैं। विकास का लाभांश उन्हें नहीं मिलता जो इसके लिए विस्थापित होते हैं। शांति और सुरक्षा के नाम पर पुलिस और सहसैनिक बलों की तैनाती आदिवासियों को उनके अधिकारों से वंचित करने वाले कार्यक्रमों की भूमिका तैयार करती है। यहाँ यह रेखांकित किया जाना जरूरी है कि आदिवासी जीवन मूल्यों के प्रति सहानुभूति या आदिवासियों के साथ हमदर्दी को नक्सलियों माओवादियों का साथ देना नहीं कहा जा सकता।

आदिवासी समाज का अध्ययन करने वाले अनेक समाजसेवी और समाजशास्त्री इसी तरह के आरोपों से कलंकित किए जाते रहे हैं, ताकि उनके मुखर विरोध को कमजोर कर विकास कार्यक्रमों को तेजी से लागू किया जा सके। डाक्टर विनायक और इला सेन के मामले में देश के सर्वोच्च न्यायालय ने दो टूक यह कहा है कि माओवादियों से सहानुभूति या इस विचारधारा का समर्थन दंडनीय अपराध नहीं। हाँ, हिंसा का सहारा लेकर विधि सम्मत सरकार का तख्ता पलट अवश्य ही गैर कानूनी गतिविधि है।

इस पुस्तक को पढ़ते वक्त कहीं पर यह नहीं लगता कि नदिनी सुंदर साम्यवादी या अतिवामपंथी विचारधारा की समर्थक हैं। राम चंद्र गुहा की तरह उनको उदार-मानवीय-जनतांत्रिक खेमे का प्रतिनिधि ही कहा जा सकता है। इसी पुस्तक में जहाँ उन्होंने सरकार की निर्दयता और क्रूरता का विस्तार से लेखाजोखा प्रस्तुत किया है, वहीं उन्होंने माओवादियों की बर्बरता और अत्याचारों की सूची भी पेश की है। लेखिका की नजर में बेचारे गरीब, निरक्षर आदिवासी चक्की के दो पाटों के बीच पिसते रहे हैं। उनके हितों की बात करने वाले 'क्रांतिकारी' जाने कितने थड़ों में बंटे हैं। मुक्ति संग्राम के दौर में 'दलम' और 'संघम' की भूमिकाएं एक दूसरे की पूरक बताई जाती हैं, पर इनके उन मतभेदों का उल्लेख भी पुस्तक में किया गया है जिनके कारण जनता का जीवन दुष्कर हुआ है।

कुछ सवाल अंत तक अनुत्तरित रह जाते हैं। यदि माओवादियों ने संप्रभु सरकार की सत्ता को हिंसात्मक चुनौती नहीं दी होती तो क्या वंचित आदिवासी आबादी की स्थिति बेहतर होती? क्या तब जंगलाती और खनिज संपदा पर उनका सामुदायिक स्वामित्व और सामूहिक प्रबंधन सरकारें स्वीकृत करतीं? लेखिका इस कड़ुए सच पर लीपापोती की कोशिश नहीं करतीं है कि बड़े-बड़े देशी औद्योगिक घराने और बहुराष्ट्रीय कंपनियां विकास के नाम पर अपनी पकड़ इन प्राकृतिक संसाधनों पर मजबूत करने को आमादा हैं। भ्रष्ट राजनेताओं और नौकरशाहों के साथ उनका गंठजोड़ ही आदिवासी समाज की बद्दहाली और शोषण उत्पीड़न के लिए जिम्मेदार है। यह ना भूलें कि छत्तीसगढ़ में भाजपा का शासन है, परंतु अन्य माओवादी जोखिमग्रस्त राज्यों में गैर भाजपाई सत्तारूढ़ हैं। पश्चिम बंगाल में ममता को तो भाजपा का विरोधी ही कहा जा सकता है। जिस बात पर कुछ और साफगोई की जरूरत है, वह चुनावी राजनीति के कारण भिन्न राजनैतिक दलों के माओवादियों के रिश्ते हैं। अकसर माओवादी अपने असर वाले क्षेत्र में मतदान के बहिष्कार का फरमान जारी करते हैं। मगर यह सोचना मतिमंदता है कि वह मतदान में किसी भी उम्मीदवार की प्रत्यक्ष या परोक्ष सहायता नहीं करते। कई निर्वाचन क्षेत्रों में राष्ट्रीय दलों के नेता उनके साथ 'जियो

पुस्तक समीक्षा

और जीने दो'की नीति का ही अनुसरण करते दिखलाई देते हैं।

यह बात अटपटी लगती है कि अकादमिक शोध पर आधारित इस पुस्तक का शीर्षक अनावश्यक रूप से सनसनीखेज सुर्खियों जैसा है। सच है कि बस्तर के जंगल बरसों से धीमे-धीमे जल रहे हैं और कभी-कभार लपटें दहक उठती हैं और इनकी चपेट में जो भी आता है झुलस जाता है। इस डर से कोई भी विकास से जुड़ा अधिकारी उपद्रवग्रस्त भूभाग में नहीं जाता। विकास के अभाव में आदिवासी जनता का असंतोष-आक्रोश में बदलने लगता है और युवाओं को बगावत के लिए प्रेरित करना उग्रवादियों के लिए आसान बनने लगता है। तब भी जब लेखिका अपनी किताब का उपशीर्षक 'बस्तर में भारत का युद्ध' रखती हैं तो यह ध्वनित होता है कि इस अघोषित युद्ध के लिए सिर्फ एक पक्ष जिम्मेदार है।

यह सवाल उठाना तर्कसंगत है कि क्यों चीन समेत दुनिया भर में माओवाद की विफलता के बाद भी भारतीय माओवादियों को अपनी वैचारिक कट्टरपंथी तथा वर्गशत्रुओं के खात्मे के लिए हिंसा की निरर्थकता समझ नहीं आती? यदि वास्तव में जनता का समर्थन बिना भयादोहन के उन्हें प्राप्त है, तो क्यों वह चुनावों में हिस्सा ले जनतांत्रिक तरीके से बदलाव लाने की रणनीति नहीं अपनाते? 1969-70 के वसंत गर्जना वाले पहले माओवादी नक्सली उफान की विफलता के सबक भुलाकर क्या भूमंडलीकरण के युग में क्रांतिकारी हिंसा का सफल राजनैतिक उपयोग कर सकते हैं?

पुस्तक की एक बड़ी कमजोरी यह है कि जहां लेखिका प्रतिपक्ष की खामियों को विस्तार से विश्लेषित करती है, वहीं वह अंग्रेजी भाषी वामपंथी रुझान के उदार समानधर्मा नागरिक समाज के सभी सदस्यों को पूर्णतः निर्दोष, निसंदेह ईमानदार और निःस्वार्थ मान कर चलती हैं। जबरन तैनात किए सिपाहियों के असंतोष को वह व्यक्त करती हैं, पर इतनी ही विषम परिस्थिति में ईमानदारी से अपनी जान जोखिम में डाल काम कर रहे छोटे बड़े सरकारी अफसरों की भूमिका या दक्षिणपंथी (वामपंथी नहीं!) 'संघी' समाजसेवियों के आदिवासी कल्याण कार्यक्रमों का मूल्यांकन करने की वह कोई जरूरत नहीं समझतीं।

न्यायपालिका हो या मानवाधिकार आयोग इनकी उदासीनता, उपेक्षा तो नंदिनी निरंतर सोदाहरण रेखांकित करती हैं, पर इस बात का कोई आभार नहीं मानतीं कि बिना इनके कवच के तथा मीडिया के सहयोग के उनका या किसी और समाज वैज्ञानिक का शोध निर्विघ्न संपन्न नहीं हो सकता था।

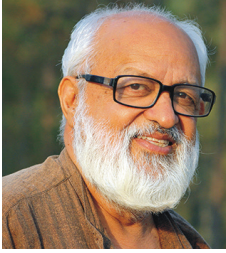
आदिवासी समाज के बारे में एक और जटिल गुत्थी है। वरियर एल्विन से लेकर आज तक इस प्रश्न का संतोषप्रद उत्तर नहीं तलाशा जा सका है कि क्या इन समूहों को प्राकृतिक आदिम अवस्था में ही छोड़ना उचित है? एल्विन के जीवनीकार रामगुहा की पुस्तक के शीर्षक 'सैवेंजिंग दि नोबुल' से यही संकेत मिलता है। एल्विन ईसाई मिशनरी थे और नेहरू के विश्वासपात्र। आज यह सुझाने वालों की कमी नहीं कि उनकी राय मानकर पूर्वोत्तर को देश की मुख्य धारा से अलग रखने की अदूरदर्शी नीति के कारण ही चीन को नेफा में पैर पसारने का मौका मिला। आज सात दशक बाद भी क्यों आदिवासी अपनी इच्छानुसार आधुनिकता का विकल्प नहीं चुन सकते? कब तक उनके हितों की रक्षा की दायेंदारी बागी, माओवादी या नागरिक समाज के सदाशयी खुदाई खिदमतगारनुमा 'एक्टिविस्ट' करते रहेंगे?

जो बात सबसे अधिक चिंताजनक है वह माओवादी बागियों के दमन के लिए कानून के राज की अवहेलना है। जिस जनहित याचिका के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने 'सेल्वा जुदुम' को खारिज किया था, उस आदेश को निरस्त करने के लिए राज्य सरकार ने एक अध्यादेश जारी कर पुराने बर्खास्त होने जा रहे विशेष पुलिस अफसरों को नया जीवनदान दे दिया। सबसे बड़ी अदालत की लाचारी के साक्षात्कार के बाद नागरिकों को यह समझाना कठिन हो गया कि शांतिपूर्ण आंदोलन द्वारा अन्याय या अत्याचार का प्रतिकार या प्रतिरोध संभव है।

नंदिनी का मानना है कि समस्या का समाधान राजनीतिक संवाद से ही संभव है, पर इसके साथ ही वह यह भी कहती हैं कि जमीनी हकीकत को देखते हुए ऐसे किसी संवाद की संभावना नजर नहीं आती। खुद उनकी गिरफ्तारी से यही लगता है कि उपद्रवग्रस्त क्षेत्र में पुलिस तथा सहसैनिक बल संप्रभु बन जाते हैं। संवैधानिक सत्ता

उन पर अंकुश लगाने में असमर्थ होती है या अनिच्छुक। खालिस्तानी आतंकवाद के उन्मूलन के लिए एपीएस गिल को भी खुली छूट दी गई थी। निर्दलीय समाजसेवी हो या शोधकर्ता अथवा पत्रकार इस बात को नकार नहीं सकते कि निर्मम बलप्रयोग के बिना उस राज्य में शांति और सुव्यवस्था की पुनर्स्थापना की कल्पना नहीं की जा सकती थी। जैसे विदेश से निर्यात किए जाने वाले आतंकवाद का मुकाबला अकेले राजनैतिक संवाद से नहीं हो सकता वैसे ही देशज आतंकवाद पर काबू पाने के लिए भी बल प्रयोग और संवाद का मिश्रण आवश्यक है। संप्रभुता को चुनौती देने वाले किसी हथियारबंद तबके के सामने कोई राज्य समर्पण नहीं कर सकता। श्रीलंका में लिट्टे का खात्मा इसी रणनीति से किया गया। वार्ता के लिए युद्धविराम कर 'रणक्षेत्र' से पीछे हटने के दुष्परिणाम कश्मीर की घाटी में नजर आ रहे हैं।

संक्षेप में नंदिनी सुंदर की पुस्तक आज के भारत के संदर्भ में एक साथ कई महत्वपूर्ण सवाल उठाती है, जिनको अनदेखा करना घातक ही सिद्ध हो सकता है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में असंतुलित आर्थिक विकास के कारण वंचित, उत्पीड़ित, शोषित तबके में असंतोष का पहले आक्रोश में बदलना और फिर हिंसक विस्फोट का रूप लेना सरकारों द्वारा अपनी संवैधानिक जिम्मेदारी के निर्वाह में असमर्थता से ही उत्पन्न हुआ है। आंतरिक सुरक्षा और सामरिक संवेदशीलता के नाम पर अपारदर्शी नीति निर्धारण और पुलिस तथा सहसैनिक बलों द्वारा मानवाधि कारों के उल्लंघन को दंडित करने में सरकारी कोताही सिर्फ बस्तर तक सीमित नहीं। न ही यह सवाल माओवादी हिंसाग्रस्त राज्यों तक सीमित है। पूर्वोत्तर राज्यों में अशांति हो या जम्मू-कश्मीर राज्य में खतरनाक अलगाववाद के संक्रामक प्रसार के लिए भी यही कारण जिम्मेदार हैं। इस पुस्तक को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि सरकारी दुराचार के बारे में मुखर किसी भी आलोचक की 'असहमति' की अभिव्यक्ति के लिए कोई जगह जनतांत्रिक होने का दावा करने वाली इस व्यवस्था में शेष नहीं। यह निश्चय ही चिंताजनक स्थिति है। ■



प्रो. पुष्पेश पंत

काले धन की समस्या से देश बरसों से जूझ रहा है। राजनैतिक जीवन तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार के लिए इसे प्रमुख कारण समझा जाता है। अनेक विद्वान काले धन की समानांतर अर्थव्यवस्था के उद्भव और दैत्याकार विकास का विश्लेषण कर चुके हैं। इसके बावजूद सामान्य नागरिक ही नहीं विशेषज्ञ अर्थशास्त्री भी इस जटिल चुनौती का सामना करने में असमर्थ नजर आते हैं। अभी हाल में नोटबंदी द्वारा विमुद्रीकरण का जो कदम मोदी सरकार ने उठाया था, उसकी प्रमुख प्रेरणा इस माध्यम से काले धन का उन्मूलन था। लेखक ने यह बात बेहिचक स्वीकार की है कि इस पुस्तक के लिखने के लिए प्रकाशक ने उसे इस नाटकीय कदम के बाद ही आमंत्रित किया था।

जहां भारत में सार्वजनिक जीवन में काले धन और काली अर्थव्यवस्था के बारे में वाद विवाद में कभी मंदा नहीं आती, वहीं यह बात नकारी नहीं जा सकती कि काले धन के बारे में प्रामाणिक और आसानी से समझ आने वाली जानकारी का बड़ा अभाव है। पेशेवर अर्थशास्त्री गणित के जिन समीकरणों से अमूर्त मॉडलों की सहायता से जो स्थापनाएं करते हैं, वह सामान्य पाठक के लिए तिलिस्मी भूल भुलैया ही बनी रहती है। समाजशास्त्री जन सांस्कृतिक स्रोतों को तलाशते अन्य विकासशील देशों के अनुभव के अलोक में तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य निखारते रहते हैं, वह बौद्धिक विलास ही जान पड़ता है। दूसरी ओर राजनेता जिस तरह के अतिसरलीकरण परोसते हैं, उनकी कोई उपयोगिता नहीं बचती।

यह अनुमान लगाया जाता है कि आज भारत में काले धन की अर्थव्यवस्था सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 62% है। 93 लाख करोड़

ब्लैक इकोनॉमी एंड ब्लैक मनी इन इंडिया : एन इंकवॉयरी इन टू कॉजेज, कॉन्सीक्वेंसेज एंड रेमिडीज

लेखक: अरुण कुमार

रुपए अर्थात् करीब 1.4 खरब अमेरिकी डॉलर की धनराशि का लेन देन इस कारोबार में होता है। यदि इस धनराशि को काले से सफेद में बदला जा सकता है, तो हमारी विकास दर 12% तक पहुंच सकती। यदि 1970 के दशक से इसका ऐसा भयानक 'विकास' नहीं होता तो आज भारत प्रति व्यक्ति आय 7 लाख रुपए प्रति वर्ष (करीब 11,000 डॉलर) होती। भारत की अर्थव्यवस्था दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था होती। कालाधन करों की चोरी से पैदा होता है- यदि इस रकम से कर जनित आय होती तो कोष में 37 लाख करोड़ रुपए की बढ़त होती। काले धन को समाप्त करने में सभी दलों की सरकारों की विफलता के कारण ही देश से गरीबी का उन्मूलन नहीं किया जा सका है।

प्रोफेसर अरुण कुमार की यह छोटी सी (डायरी के आकार में 114 पृष्ठ) पुस्तक ने इस कमी को दूर कर दिया है। पुस्तक में भूमिका और निष्कर्ष को मिलाकर कुल पांच अध्याय हैं: व्हाट इज ब्लैक इकोनॉमी?, ब्लैक इकोनॉमी इन इंडिया टुडे, ओरिजिन्स एंड ग्रोथ, व्हाट फुएल्स दि ब्लैक इकोनॉमी? रेमिडीज। इसके अलावा परिशिष्ट में आम तौर पर अर्थशास्त्रियों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले पारिभाषिक शब्दों की सूची है, पूरक नोट्स और अतिरिक्त टिप्पणियां। जो पाठक विषय का अध्ययन विस्तार से करना चाहें उनके लिए चुनिंदा पुस्तकें और लेख भी सुझाए गए हैं।

प्रोफेसर अरुण कुमार कई वर्षों से काले धन और काली अर्थव्यवस्था का अध्ययन कर रहे हैं और इस विषय पर उनकी मौलिक स्थापनाएं अंतर्राष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। वह दिल्ली, जवाहरलाल नेहरू तथा प्रिंसटन आदि विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के बाद लगभग तीन दशक तक जेएनयू में शोध और अध्यापन कर चुके हैं।

प्रिंसटन, कोलंबिया जैसे प्रतिष्ठित अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में भी वह अतिथि प्राध्यापक रह चुके हैं। किसी दलगत या वैचारिक पक्षधरता से मुक्त लेखक के लिए इस विषय का तटस्थ विश्लेषण संभव हुआ है।

सबसे रोचक बात यह है कि लेखक काले धन पर आधारित अर्थव्यवस्था को समानांतर अर्थव्यवस्था नहीं मानता। उसके अनुसार समानांतर रेखाएं कभी मिलती नहीं, जबकि काले धन की अदृश्य अर्थव्यवस्था हमारी औपचारिक 'जायज' अर्थव्यवस्था से अभिन्न रूप से जुड़ी-गुंथी है।

प्रस्तावना और पहला अध्याय पाठक से एकाग्रचित्त अध्ययन की अपेक्षा करते हैं। लेखक ने यह साफ किया है कि पश्चिम में तथा भारत जैसे विकासशील देश में काले धन की परिभाषा भिन्न ही हो सकती है। इसे सिर्फ नाजायज अनौपचारिक ऊपर की आय नहीं समझा जा सकता। आय को करों के जाल से बाहर रखने से ही काले धन का भंडार बढ़ता है। इसे समझे बिना संक्रामक जानलेवा रोग के उपचार की बात सोची ही नहीं जा सकती। प्रस्तावना में ही लेखक यह भी रेखांकित कर देता है कि काले धन की कमाई और भ्रष्टाचार को पर्याय नहीं माना जा सकता, हालांकि दोनों का नाता आत्मीय है। इसीतरह अरुण कुमार का मानना है कि यह मर्ज सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों तक ही सीमित नहीं। उनकी अन्य स्थापनाएं भी विचारोत्तेजक हैं- जरूरी नहीं कि सभी अर्थशास्त्री इनसे सहमत हों- जैसे यह सोचना भ्रामक है कि काली अर्थव्यवस्था सफेद अर्थव्यवस्था की पूरक है- इससे भी रोजगार पैदा होता है या कार्यकुशलता को प्रोत्साहन मिलता है। प्रोफेसर कुमार इस गलतफहमी को भी दूर करने का प्रयास करते हैं कि देश का अधिकांश काला धन विदेशी बैंकों में छिपा है। आंकड़ों की मदद से वह दर्शाते हैं कि

पुस्तक समीक्षा

कुल काले धन का मात्र 10% ही प्रति वर्ष देश के बाहर पहुंचाया जाता रहा है। इस बारे में तरह-तरह की भ्रांतियां चुनाव अभियानों के दौरान की घोषणाओं के कारण व्याप्त हैं- मसलन यदि विदेशी बैंकों में जमा काले धन की पूरी वापसी हो जाए तो हर भारतीय के खाते में 15 लाख रुपए जमा हो सकते हैं। लेखक ने इन लोकलुभावन दावों के परीक्षण में समय व्यर्थ करना उचित नहीं समझा है। निश्चय ही ऐसा करने से हमारा ध्यान मुख्य विषय से भटक ही सकता था।

जो बात निर्विवाद है और चिंता जनक भी, वह यह कि हाल के वर्षों में कालेधन जनित भ्रष्टाचार का पैमाना निरंतर बढ़ता जा रहा है। 1990 के दशक के पहले वाला बोफोर्स घोटाला सिर्फ 64 करोड़ रुपयों का था, इसके बाद 1000 करोड़ रुपए से अधिक के घपलों का पर्दाफाश हुआ- हर्षद मेहता कांड की धनराशि 3128 करोड़ रुपए आंकी गई। 2-जी, कोलगेट आदि घोटालों का आकार लाखों करोड़ रुपयों तक पहुंच गया है। इस हिस्से के अंत में लेखक यह बात स्वीकार करता है कि काली अर्थव्यवस्था के आंकड़े जुटाना सहज नहीं और नहीं विभिन्न अनुमानों-सर्वेक्षण पर आधारित आकलनों को प्रामाणिक कहा जा सकता है, परंतु इस आधार पर विश्लेषण को स्थगित नहीं किया जा सकता। लेखक के अनुसार काले धन की पैमाइश के विभिन्न तरीकों में वित्तीय पैमाना ही सबसे सही है। अंत में वह इस बात को भी स्पष्ट करते हैं कि आपराधिक गतिविधियों से (तस्करी, मादक द्रव्यों की बिक्री, भयादोहन, फिरोती आदि) होने वाली कमाई काले धन का एक छोटा सा हिस्सा है (लगभग 8%)। अधिकांश काला धन जायज कारोबार में ही करों की चोरी से उपजता है।

दूसरे अध्याय में काले धन के देश पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन है। यह भाग अपेक्षाकृत तकनीकी है- कहीं-कहीं गणित के फॉर्मूले या ग्राफ झलक जाते हैं, पर इनसे घबराने की जरूरत ज़िज्ञासु पाठक को नहीं होनी चाहिए। इनका समावेश इसलिए किया गया है कि अर्थशास्त्र के जानकार उस शोध के अनुशासन को परख सकें, जिनके आधार पर लेखक ने निष्कर्ष निकाले हैं। साधारण भाषा में इनका सार सुलभ किया गया है। सबसे बड़ी बात जो दो टूक कही गई है यह है कि सार्वजनिक जीवन की दर्दनाक और निकट भविष्य में विस्फोटक साबित हो सकने

वाली सामाजिक विषमता के लिए कालाधन ही उत्तरदायी है। शिक्षा का निजीकरण हो या चिकित्सा सेवाओं का इनके कारण ही गरीबों और अमीरों के बीच की खाई बढ़ती जा रही है। आज देश की आबादी 1.27 अरब है, इनमें 4 करोड़ इतने खुशहाल हैं कि उनकी तुलना इसी आकार के किसी यूरोपीय देश के बाशिंदों से की जा सकती है। वह विलासिता पूर्ण जीवनयापन करने में समर्थ हैं। इनकी फिजूल खर्ची से संसाधनों का अपव्यय ही होता है- सकल राष्ट्रीय उत्पाद का जनकल्याणकारी उपयोग नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त गैरजिम्मेदार उपभोगवादी अपसंस्कृति के कारण पर्यावरण की क्षति, असहनीय प्रदूषण का आकलन भी किया जाना चाहिए। वंचितों की आकांक्षाओं का अतृप्त ज्वार असामाजिक/ आपराधिक आचरण को बढ़ावा देने वाला ही सिद्ध होता है। अपने को 'अन्याय' का शिकार समझने वाले अराजकता का सहर्ष स्वागत करते दिखलाई देते हैं। हवाला के जरिए काले धन को पहले बाहर भेज फिर वापस लौटा लाने की प्रक्रिया काफी विकसित हो चुकी है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि काले से सफेद किए धन का निवेश उत्पादक उद्यम या रोजगार पैदा करने के लिए होता है। आम आदमी को लगने लगा है कि उन्नति के लिए योग्यता, अनुशासन या श्रम नहीं, बल्कि भाग्य या बाहुबली अनैतिक पराक्रम ही सही उपकरण हैं।

तीसरा अध्याय काले धन के जन्म और वृद्धि पर केन्द्रित है। लेखक ने इस संक्षिप्त-सरस भाग में द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण पैदा ज़रूरी चीजों के अभाव के कारण औपनिवेशिक शासन द्वारा राशनिंग व्यवस्था को लागू करने की मजबूरी को उल्लेख किया है।

युद्ध समाप्त हो जाने पर भी यह 'लायसेंस-परमिट-रेंट कंट्रोल' वाला राज बरकरार रहा। देश के विभाजन और लाखों शरणार्थियों के पुनर्वास की चुनौती ने नौकरशाही पर बड़ा बोझ डाल दिया। इस संकटपूर्ण संक्रमण काल में उस नौकरशाही में भ्रष्टाचार तेजी से फैला, जिसका स्वरूप आरंभ से ही जनता के सेवकों का नहीं, बल्कि विदेशी हुक्मरानों के उत्पीड़क अनुचरों का था। आज हम इस बात को भूल जाते हैं कि युद्धोपरांत जिस आर्थिक पुनर्निर्माण की रूप रेखा के आधार पर देश का औद्योगिक पांचसाला योजनाओं को लागू किया गया उसके मूल लेखक बड़े

देशी उद्योगपति ही थे। सैद्धांतिक रूप से यह योजना कितनी ही आदर्श रही हो आजादी के बाद इन्हीं घरानों ने अपने व्यक्ति स्वार्थ साधन के लिए और एकाधिकारी वर्चस्व स्थापित करने के लिए रिश्वत तथा राजनैतिक संपर्कों का दुरुपयोग कर काले धन वाली अर्थव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त किया। सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों को प्राथमिकता देने के हठ ने भी इस मानसिकता को बल दिया।

यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि उपयोगी है, पर साथ ही यह नजरंदाज नहीं किया जा सकता कि वास्तव में काली अर्थव्यवस्था ने विकराल रूप 1991 में उदारीकरण वाले सुधारों और भूमंडलीकरण के वरण के बाद ही धारण किया है।

चौथा अध्याय काफी दिलचस्प है और हमें कई गलतफहमियों से छुटकारा दिला सकता है। लेखक का मानना है कि काले धन की लपटों को भड़काने वाले ईंधन के रूप में जिन चीजों का जिक्र अकसर होता है, वह वास्तव में इसकी जिम्मेदार नहीं। मसलन सरकारी कर्मचारियों की कम तनखाहें, मुद्रास्फीति की बड़ी दर, करों की ऊंची दर और सख्त कानून/निगरानी। लेखक ने बड़े कौशल से यह दर्शाया है कि इनमें कोई भी कारण अनुभव सिद्ध नहीं। भारत में सरकारी कर्मचारियों या अन्य पेशेवरों प्रबंधकों, कारीगरों को विकसित देशों के जैसे वेतन देने की मांग नहीं की जा सकती, जबकि हमारी प्रतिव्यक्ति आय इन देशों की प्रतिव्यक्ति आय का 5% भी नहीं। यदि 5% भारतीयों को भी इतना वेतन दिया जाए तो बाकी कुछ शेष नहीं रहेगा। इस बात को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता कि कम वेतन के बावजूद भारत में विकसित देशों जैसा न सही पर काफी सुखद जीवन यापन भारतीय वेतनमान की स्थानीय खरीद सामर्थ्य के कारण संभव है। आज भी सरकारी कर्मचारियों को तथा संगठित निजी क्षेत्र में कामगारों को मिलने वाला वेतन आम भारतीय की मासिक आय से कहीं अधिक है। मुद्रास्फीति से व्यापारियों को निश्चय ही लाभ होता है, पर यदि इस बढ़ी आय पर कर चुकाए जाएं तो काला धन नहीं पैदा होता। करों की चोरी से ही ऐसा होता है। अर्थात् मुद्रास्फीति नहीं, बल्कि गैरकानूनी करों की चोरी इसके लिए जिम्मेदार है, जहां तक ऊंची कर दर का सवाल है, लेखक यह जायज सवाल उठाता है कि किस दर को

ऊंचा कहा जाना चाहिए? 1985 में स्वीडेन में आयकर की दर 85% थी, पर तब भी अधिकांश नागरिक कर चुकाते थे। तब वहाँ काली अर्थव्यवस्था सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मात्र 1% थी। 1971 में भारत में आयकर की सर्वोच्च दर 97.5% थी। 15 लाख रुपए के ऊपर आयकर के साथ संपत्ति कर भी लगता था, जिसके बाद यह दर 102% तक पहुँच जाती थी। उस समय वांछू समिति के अनुमान के अनुसार कालेधन की अर्थव्यवस्था हमारे कुल सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 7% अंश ही थी। उसके बाद से भारत में करों की दर निरंतर कम होती रही है, परंतु काले धन की अर्थव्यवस्था घटने की बजाय लगातार बढ़ती जा रही है। नागरिकों को कर चुकाने के लिए प्रेरित प्रोत्साहित करने के लिए रियायतों योजनाओं की घोषणा भी नाकाम साबित हुई है। यह बात सिर्फ आय कर पर ही नहीं, वरन उत्पाद कर, सीमा शुल्क आदि पर भी लागू होती है। कस्टम ड्यूटी जो कुछ वर्ष पहले 320% तक होती थी, आज अधिकांश वस्तुओं पर 15% रह गई है। इसके बावजूद अंडर तथा ओवर इंवॉयसिंग के जरिए पूंजी का देश से पलायन बढस्तूर जारी है और काले धन की अर्थव्यवस्था पर अंकुश नहीं लगाया जा सका है। एक अटपटा सवाल जो लेखक खड़ा करता है, यह है कि क्या किसी सख्त कानून को बनाना ही उसके आपराधिक उल्लंघन और काले धन की कमाई का कारण नहीं बनता? भवन निर्माण हो या प्रदूषण नियंत्रण निरीक्षकों को अधिकार संपन्न कर क्या सरकार खुद इस तरह के आचरण को बढावा नहीं देती?

बीच-बीच में सरकार जिस तरह काले धन की स्वेच्छा से घोषणा करने वालों को अभयदान वाली योजनाओं को लागू करती रही हैं, उनसे कालेधन की कमाई करने वालों में इसी धारणा को बल मिला है कि किसी कानून से डरने की कोई जरूरत नहीं। देर सबेर रिहाई का कोई जरिया मिल ही जाएगा।

एक समय था जब सतर्क मीडिया की निगरानी काली अर्थव्यवस्था में लिप्त कारोबारियों को आशंकित-कमोबेश भयभीत-रखती थी। इस घड़ी कॉर्पोरेट जगत मीडिया पर पूरी तरह काबिज है। पेड न्यूज, एडवर्टोरियल, इफोटेनमेंट आदि शब्दों का प्रयोग किए बिना ही लेखक ने इस संकट को उजागर किया है कि मीडिया से आज यह लड़ाई लड़ने की या इसमें हाथ बंटाने की आशा व्यर्थ है।

पांचवें अध्याय का शीर्षक है 'रेमिडीज यानी उपचार'। लेखक के अनुसार तीन तरह के समाधान सुझाए जा सकते हैं- स्वैच्छिक, सरकार द्वारा काले धन से अर्जित संपत्ति का अधिग्रहण तथा टेक्नोलॉजी पर आधारित-आधार कार्ड, पैनकार्ड और अर्थव्यवस्था का डिजिटिकरण। इन तीनों की ही सीमाएं जगजाहिर हो चुकी हैं। यहां एक बार फिर अरुण कुमार मोदी की नोटबंदी का जिक्र करते हैं।

इस दिशा में एनडीए सरकार द्वारा हाल में उठाए कदमों के सर्वेक्षण के बाद लेखक दीर्घकालीन, मध्यकालीन तथा अल्पकालीन समाधानों की सूची पेश करता है। पुस्तक का यही हिस्सा सबसे कमजोर और अव्यावहारिक लगता है। प्रोफेसर अरुण कुमार अन्य अर्थशास्त्रियों की तरह तटस्थ वैज्ञानिक की मुद्रा नहीं अख्तियार करते। बिना किसी वैचारिक कट्टरपंथी के वह समता पोषक समाज और मानवीय मूल्यों के पक्षधर हैं, अतः भविष्य के बारे में आशावादी स्वर मुखर करना चाहते हैं। अपने समाधानों की व्यावहारिक सफलता के बारे में बिना किसी आधार के वह कुछ आशंकाओं के साथ ही सही आश्वस्त दिखने की कोशिश करते नजर आते हैं, पर यह आशवासन विश्वसनीय नहीं लगते।

सूचना का अधिकार हो या कानूनों में सुधार, संस्थाओं की स्वायत्ता-स्वाधीनता का विकास हो, कार्यपालिका में सुधार इनमें किसी की भी संभावना यथार्थवादी नहीं लगती। कुछ और सुझाव या ख्वाहिशें तो और भी असंभव प्रतीत होते हैं- मसलन भारत द्वारा इस संदर्भ में वैश्विक पहल के लिए सक्रिय होना। विडंबना यह है कि स्वयं जिन विकल्पों को लेखक पहले अध्यायों में विफल कह खारिज कर चुका है, उन्हीं को पुनः टटोलने की चेष्टा इस भाग में करता है- जैसे किसी अभिनव टेक्नोलॉजी के आविर्भाव की। मानों डूबते को तिनका ही सहारा नजर आ रहा हो।

दीर्घकालीन दृष्टि से अरुण कुमार को लगता है, राजनैतिक बदलाव की जरूरत है। इसका एक हिस्सा चुनावी सुधार हैं। पर यहां भी प्रश्न बचा रहता है कि इस बदलाव को लाएगा कौन? क्या भ्रष्ट राजनेताओं से यह आशा की जा सकती है कि अपने न्यस्त स्वार्थों पर कुठाराघात करने वाले सुधारक कानून वह पारित करेंगे? बचा रहता है एक विकल्प जनांदोलन वाला। पुस्तक में लेखक ने अन्यत्र

अन्ना हजारे वाले आंदोलन का उल्लेख किया है। यह दोहराने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि इस आंदोलन की परिणति और इससे जन्मी आप पार्टी का अनुभव बहुत आश्वस्त करने वाला नहीं समझा जा सकता। यह आशा भी निर्मूल है कि कॉर्पोरेट जगत का लोक कल्याणकारी हृदय परिवर्तन अचानक स्वयमेव हो जाएगा।

अंत में जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं, उनसे कोई भी असहमत नहीं हो सकता- काले धन और काली अर्थव्यवस्था की जड़ें भारत के सामाजिक संगठन, राजनैतिक प्रणाली, अर्थव्यवस्था और संस्कृति में गहरी दबी हैं। जब लेखक यह कहता है कि काले धन के उन्मूलन की लड़ाई भारत के पुनर्निर्माण के अभियान से कम नहीं तो किसी असहमति की गुंजाइश नहीं रहती। पर लेखक इस बात का कोई संकेत नहीं देता कि एक सभ्य-सुसंस्कृत, जनतांत्रिक और सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करने वाले समाज का निर्माण कैसे किया जा सकता है? यह काम आसान नहीं। लेखक का अंतिम वाक्य है: पर क्या राष्ट्र निर्माण का काम कभी आसान रहा है?

इस घड़ी देश में राष्ट्रवाद/देश प्रेम को लेकर एक गर्म बहस छिड़ी है। इन पंक्तियों के लेखक की राय में अरुणकुमार ने इस विषय को जनतांत्रिक समतापोषक समाज और सामाजिक न्याय के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ दर्शाया है। इसके लिए आधार मानना चाहिए। यों जो उत्तरदायित्व उसने पुस्तक लिखते समय स्वीकार किया था, वह एक सामयिक और दुरूह विषय को बोधगम्य बनाने तक ही सीमित था।

एक विस्तृत ऐतिहासिक फलक पर दृष्टिपात करने के साथ-साथ लेखक ने समसामयिक घटनाक्रम के परिप्रेक्ष्य में बहुत सारे तथ्यों को इस गागर में भरा है। पाठक को विशेषज्ञों के उद्धरणों से भरकर अपने पांडित्य से अभिभूत करने की बजाय तार्किक विश्लेषण का अवलंबन लिया है। पुस्तक सरल भाषा में सरस शैली में लिखी गई है और निश्चय ही पठनीय और उपयोगी है। परिशिष्ट वाला भाग जिसमें काले धन की पैमाइश के तरीकों की तुलना की गई है, सामान्य पाठक की दिलचस्पी का नहीं, पर इस पर सरसरी नजर डालना प्रतियोगी परीक्षा के प्रत्याशियों के सामान्य ज्ञान वर्धन के लिए उपयोगी होगा। ■



मणिकांत सिंह

एज ऑफ एंगर : हिस्ट्री ऑफ प्रजेंट

लेखक: पंकज मिश्रा

पंकज मिश्रा उन सौभाग्यशाली लेखकों में हैं जो अपने अंग्रेजी में लिखे उपन्यासों की असफलता के बाद भी असाधारण अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर अपने को सार्वजनिक बौद्धिक के रूप में स्थापित कर सके हैं। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ संपादक के रूप में किया था, पर अब वह स्वतंत्र लेखन से ही जीवन यापन करते हैं और आप्रवासी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वह पेशेवर समाजशास्त्री या इतिहासकार नहीं, पर पिछले वर्ष अपनी शोधपरक पुस्तक के लिए प्रशंसित हुए हैं। इस पुस्तक का शीर्षक बुद्ध के पदचिह्नों का अनुसरण था और इसकी विषय वस्तु औपनिवेशिक साम्राज्यवाद में हिंसा का सर्वेक्षण था। इस पुस्तक को बेस्टसेलर बनाने की प्रकाशक की चेष्टा के बावजूद यह भारत में ज्यादा दिन तक चर्चित नहीं रह सकी। अन्य भारतीय सार्वजनिक बौद्धिकों- राम गुहा, अरुंधति राय, अमर्त्य सेन, अमिताभ घोष की तुलना में पंकज मिश्रा कम वजनदार आंके जाते रहे हैं। ऐसा लगता है कि इसी लिए इस बार उन्होंने एक ऐसा विषय चुना है जो सामयिक होने के साथ-साथ स्थाई महत्व का है। आज ऐसा लगता है कि विश्व भर में सभी देश गृहयुद्ध जैसी स्थिति में नजर आ रहे हैं। सर्वत्र समाज बुरी तरह विभाजित हैं और राजनीति हो या अर्थव्यवस्था भयंकर अराजकता के संकट से ग्रस्त हैं। इस बारे में दो राय नहीं हो सकती है, कि इस अराजकता के मूल में रोष और आक्रोश के स्रोतों की पड़ताल किए बिना इस सांघातिक महामारी का उपचार असंभव है।

अपनी ताजा पुस्तक का उपशीर्षक पंकज ने हिस्ट्री ऑफ प्रजेंट (वर्तमान का इतिहास) दिया है जो पाठक को सहज ही आकर्षित

करने की चेष्टा रखता है। वास्तव में पुस्तक की अधिकांश सामग्री 18वीं तथा 19वीं सदी के यूरोपीय इतिहास के उस अध्याय पर केन्द्रित है, जिसे 'एनलाइटनमेंट' का नाम दिया जाता है। भले ही भारतीय और विदेशी समीक्षकों ने मिश्रा के पांडित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और अधिकांश के अनुसार गल्प साहित्य का लेखक होने के कारण पंकज को अनेक चिंतकों-दार्शनिकों के अंतर्मन में प्रवेश सुलभ हो सका है और इसीलिए उन विचारों पर वह नया प्रकाश डाल सके हैं, जिन्हें समाजशास्त्री बरसों से बिना बहस के आधुनिकता की नींव का पत्थर मानते आए हैं। इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि यूरोपीय इतिहास और राजनीति शास्त्र के किसी भी स्नातक को इस रचना में कहीं भी कुछ मौलिक नहीं लगेगा और नहीं कोई नई अंतर्दृष्टि प्राप्त होगी।

लेखक की मुख्य 'स्थापनाएं' बहुत सारे समाजशास्त्रीय विषयों के स्वाध्याय के कारण स्वयं लेखक को अनुभव से प्रमाणित लगती हो, शास्त्रीय शोध के लिए आवश्यक अनुशासन के अभाव में जानकार पाठक को निराश ही करेंगी। मसलन रूसो को वंचित उत्पीड़ित मानवता को वाणी देने वाला स्वयं इसी तबके से प्रकट होने वाला चिंतक दर्शाने का श्रम इसलिए निरर्थक लगता है, क्योंकि इस विषय में मतभेद ही ही नहीं। रूसो की तुलना वॉल्टेयर, मांटेस्क्यू, दिदेरो या तालीरां जैसे विश्वकोष की परियोजना से संबद्ध चिंतकों से कर, उन्हें महिमामंडित करने की आज कोई जरूरत नहीं। रूसो की जीवनयात्रा का संघर्ष, उनके व्यक्तित्व के अंतर्विरोध बीसवीं सदी में ही उद्घाटित किए जा चुके थे तथा जनतंत्र, समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व, क्रांति-प्रतिक्रांति वाला विमर्श भी दो शताब्दियों से अनवरत जारी है।

पुस्तक में कुल सात अध्याय हैं। इनके शीर्षक सायास पाठक को इनमें प्रस्तुत सामग्री

और उस पर आधारित लेखक के निष्कर्षों से सहमत होने के लिए प्रेरित प्रोत्साहित करते हैं: क्लियरिंग दि स्पेस: हिस्ट्रीज विनर्स एंड देयर इल्यूजन्स; लविंग अदर्स थ्रू अदर्स: प्रोग्रेस एंड इट्स कंट्राडिक्शन्स; लूसिंग माय रिलीजन: इस्लाम; सेक्यूलरिज्म एंड रिवायल्यूशन; रिगोनिंग माय रिलिजन: नेशनलिज्म अनबाउंड, मैसियैनक विजन्स; फाइंडिंग टू फ्रीडम एंड इक्वॉलिटी: दि हेरिटेज ऑफ निहिलिज्म; एपिलॉग फाइंडिंग रिगैलिटी।

बिना इस शब्दाडंबर से आतंकित हुए यह बात कही जा सकती है कि कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि लेखक पहले से ही तय निष्कर्षों को प्रमाणित करने के लिए प्रमाण जुटाने में व्यस्त रहा है न कि शोध और अध्ययन-मनन से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर जिन तर्कसंगत नतीजों तक वह पहुंचा है, उनका साझा वह पाठक से कर रहा है। पश्चिमी राजनैतिक दर्शन के दिग्गजों में रूसो निश्चय ही अग्रगण्य हैं और जनतांत्रिक जीवन मूल्यों की स्थापना में उनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता, पर इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि उनका चिंतन एक काल विशेष के 'यथार्थ' को प्रतिबिंबित करता है। अपने समकालीन समानधर्म चिंतकों से अलग कर उनका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता और न ही इस बात की अनदेखी की जानी चाहिए कि वह मनुष्य की नैसर्गिक स्थिति, दासता, स्वाधीनता आदि के बारे में जो विश्लेषण कर रहे थे, वह औद्योगिक क्रांति के ज्वार के पहले के समय की परिस्थितियों से प्रेरित है। औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के अनुभव के आलोक में इसे सार्वभौमिक और शाश्वत सिद्ध करने की भूल वही कर सकते हैं, जो पश्चिमी की श्रेष्ठता को स्वीकार करने वाली मानसिक दासता की बेड़ियों को तोड़ने में असमर्थ हैं। निरंकुश शासक, उत्पीड़क व्यवस्था के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतंत्रता और नागरिक के अधिकारों

को मुखर करने वाले विचारक यूरोप से इतर भी मुखर हुए हैं और सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा गैर यूरोपीय परंपराओं में भी है। यहां इस बात का उल्लेख जरूरी है, क्योंकि लेखक की नजर से देखने पर ऐसा लगता है कि आज के विश्वव्यापी आक्रोश की जड़ें टटोलने के लिए 18वीं सदी से पहले लौटने की दरकार नहीं और न ही यूरोप से बाहर कहीं नजर दौड़ाने की जरूरत है!

यह बात इसलिए अटपटी लगती है कि पंकज मिश्रा को इकोनॉमिस्ट जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका 'एडवर्ड सईद का उत्तराधिकारी' घोषित कर चुकी है। पंकज की सरस शैली पाठक को लुभाती है, पर सईद जैसी गुरुता उनके लेखन में नहीं और न ही वैसा पांडित्य दिखलाई देता है। लंबे-लंबे उद्धरणों के अतिरिक्त अन्य लेखकों की टिप्पणियों के 'भावार्थ' अपने शब्दों में प्रस्तुत कर इस रचना का आकार विपुल हुआ है। निश्चय ही एडवर्ड सईद सरीखी मौलिकता की अपेक्षा व्यर्थ है। भारत में मोदी और भाजपा की जीत से खिन्न और चकित होने वालों में लेखक अकेले नहीं समझे जा सकते। इसी तरह अमेरिका और पश्चिमी यूरोपवासियों के लिए यह समझ पाना सहज नहीं कि क्यों संपन्न देशों में कट्टरपंथी असहिष्णुता का ज्वार उठ रहा है? इस्लामी जिहादी मानसिकता के लिए दकियानूसी सोच और आर्थिक अभाव को जिम्मेदार ठहराने की कोशिश नाकाम साबित हो चुकी है और न ही यह कहना तर्कसंगत लगता है कि ट्रंप जैसे नेता का उदय आक्रामक इस्लामी आतंकवाद जनित प्रतिक्रिया है। पंकज मिश्रा आज के विभाजित विश्व की हालत से चिंतित तो हैं, पर तमाम बौखलाहट के बावजूद 18वीं सदी से पहले लौटने की उतनी जहमत भी नहीं उठाना चाहते, जितनी क्लेश ऑफ सिविलाइजेशन के लेखक सैमुवल हंटिंग्टन ने जरूरी समझी थी। हंटिंग्टन अनुशासित समाजशास्त्री शोधकर्ता थे। विश्व इतिहास के संदर्भ में व्यापक स्तर पर सामान्यीकरण करने में अतिसरलीकरण से बच नहीं सके थे। पंकज मिश्रा इस जोखिम से बेखबर सुखी नजर आते हैं। शायद इसलिए कि वह अपने (विदेशी) पाठक की नब्ज भली भांति पहचानते हैं। वह जो पढ़ना या सुनना चाहता है, वही लेखक परोस रहा है।

'प्रगति' के अंतर्विरोध, 'विकास' से पैदा होने वाले कष्ट- सामाजिक विषमता, व्यक्ति और समुदाय विशेष का शोषण-उत्पीड़न, आधुनिकता और परंपरा का द्वंद्व, विज्ञान की निष्पक्षता विषयक अंधविश्वास, धार्मिक आस्था

का संकट, समताकामी क्रांति और हिंसा के रिश्तों वाली बहस कई पीढ़ियों से चल रही हैं। धर्म निरपेक्षता की पश्चिमी अवधारणा का विकास ईसाई चर्च और राजनैतिक सत्ता के संघर्ष में हुआ है। मूल्यों के बारे में चिंतक सुकरात, अरस्तू, अफलातून लौटते हैं- नाम मात्र को ही गैर पश्चिमी चिंतन को इस विमर्श में स्थान मिलता है। यह बात समझने लायक है कि अधिनायकत्व, जनतंत्र और अराजकता का अध्ययन विश्लेषण करने के लिए हम हर घड़ी पश्चिम की तरफ ही देखते हैं। जब पंकज मिश्रा हिंदुत्व के प्रतिपादक सावरकर को हिटलर और फासीवाद से प्रेरित-प्रभावित दर्शाते हैं तो नया कुछ नहीं करते। इटली के एकीकरण के प्रेरक मेत्जिनी के बारे में भी किसी नए परिप्रेक्ष्य में रखने में वह कामयाब नहीं नजर आते। जहां 'प्रभाव' दिखलाना सुविधाजनक नहीं लगता, वहां चुप रहना ही बेहतर समझा गया है। मसलन गांधी ने भी मेत्जिनी की तर्ज पर ही यंग इंडिया नामक अखबार का प्रकाशन शुरू किया था। या कैसे अराजकतावादियों से परिचित होने के बाद भी उनकी नकारात्मक हिंसा को गांधी ने खारिज किया था। गांधी को अपने सोच पर पश्चिमी चिंतकों का गहरा असर था, परंतु राजनीति को वह धर्मनिरपेक्ष कतई नहीं समझते थे। हिंदू धर्म में गांधी की आस्था थी और मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए धर्म और न्याय में भेद करने की जरूरत वह महसूस नहीं करते थे। सभ्यता जनित असंतोष और इससे उपजा कुठित आक्रोश उनकी सतत चिंता का विषय रहा। हिंदू स्वराज इसका बेहतरीन उदाहरण है।

अपनी पुस्तक में पंकज पाठक का ध्यान इस ओर दिलाते हैं कि संपन्न, शिक्षित जनतांत्रिक समझे जाने वाले पश्चिमी देशों में भी यदि युवा कट्टरपंथी इस्लाम और असहिष्णु आचरण के प्रति आकर्षित हो रहे हैं तो इसका कारण यह महसूस करना है कि वह 'वंचित' हैं- उन शरणार्थियों की तरह जो सत्ता परिवर्तन के कारण गृहयुद्ध ग्रस्त ईराक, सीरिया, अफगानिस्तान आदि से बेघर हो, पश्चिमी देशों पर बोझ बन रहे हैं और ईसाई सभ्यता के लिए अस्तित्व का संकट पैदा करने लगे हैं। इस बात को झुटलाना असंभव है कि सांप्रदायिक असहिष्णुता और नस्लवादी द्वेष को फैलाने में पश्चिम के जनतांत्रिक देशों-खास कर अमेरिका की भूमिका प्रमुख रही है। फ्रांसीसी क्रांति की सफलता से समता-स्वतंत्रता के विश्वव्यापी प्रसार की जो आशा जगी थी, उसे धूमिल होते देर नहीं लगी। क्रांति अपनी संतानों की भक्षक बन गई और वॉल्टेयर, दिदेरो, रूसो जैसे प्रबुद्ध चिंतक

हाशिए पर पहुंचा दिए गए। क्रांति और प्रतिक्रांति की उथल-पुथल 19वीं सदी में लगातार जारी रही। उपनिवेशवाद के विस्तार के साथ पश्चिम का साक्षात्कार एशिया और अफ्रीका से हुआ। औद्योगिक क्रांति और साम्राज्यवाद की सफलता ने जनतंत्र और स्वतंत्रता विषयक चिंतन को अनिवार्यतः प्रभावित किया। कार्ल मार्क्स का चिंतन मुक्तिकामी ही था, पर उनका विश्लेषण खुद उनकी और उनके समर्थकों की नजर में रूसो की तरह रोमानी न ही, 'वैज्ञानिक' था। उनके अनुसार नैसर्गिक साम्यवाद की तरफ वापसी असंभव थी और नहीं मनुष्य सुखद अराजक जीवन यापन कर सकता था। पूंजीवाद ने सामंतवाद को पराजित कर जीवन का मशीनीकरण कर डाला था। इस शोषण को क्रांतिकारी हिंसक वर्ग संघर्ष ही समाप्त कर सकता था। 19वीं सदी के अन्य समाजशास्त्री भी इस सदी के अनुभव से ही प्रभावित रहे। तालीरां की अमेरिकी जनतंत्र के बारे में विचारोत्तेजक टिप्पणियां अथवा जनतांत्रिक राज्यों के परस्पर संबंधों के विषय में इमैनुएल कांट के विचार चर्चा के केन्द्र में नहीं रहे।

वैज्ञानिक प्रगति के बारे में गंभीर आशंकाएं प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही मुखर होने लगीं। रूस में बोल्शेविक क्रांति की सफलता के बाद से ही क्रांतिकारी और जनतांत्रिक राज्यों के अंतर के बारे में सवाल पूछे जाने लगे। दो विश्वयुद्धों के अंतराल में कई पश्चिमी देशों में जनतंत्र का क्षय हुआ। इटली में फासीवादी और जर्मनी में नाजी तानाशाही की स्थापना हुई। स्पेन में जनतांत्रिक ताकतें पराजित हुईं। जापानी सैन्यीकरण को भी जनतांत्रिक नहीं कहा जा सकता। सोवियत संघ में स्टालिन ने मार्क्स को शीर्षासन कराने में कोई कसर नहीं छोड़ी। यहां विस्तार से इन सभी उदाहरणों पर टिप्पणी नहीं की जा सकती, पर इनका उल्लेख इसलिए जरूरी है कि यह समझा जा सके कि आज की दुनिया के गुस्से के कारण समझने के लिए ढाई तीन सौ साल पहले के यूरोप की तरफ लौटने की जरूरत नहीं। शायद बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के अनुभव भी आज के संकट के समाधान के संदर्भ में निरर्थक ही हैं।

जिस इस्लामी कट्टरपंथी ने हिंसक आतंकवाद को जन्म दिया है, उसकी फसल जनतांत्रिक अमेरिका ने शीत युद्ध के दूसरे चरण में अफगानिस्तान से रूस को खदेड़ने के लिए लगाई थी। सऊदी अरब ने जिस आक्रामक असहिष्णु वहाबी इस्लाम का निर्यात किया है, वह अमेरिकी सहकार और पीठ पर उसके वरद

पुस्तक समीक्षा

हस्त के संभव नहीं था। दूसरे शब्दों में 'जनतंत्र' का उदार, मानवीय मूल्यों का समर्थक संरक्षक होना स्वयंसिद्ध नहीं समझा जा सकता। अपने राष्ट्रहित की हिफाजत के लिए अमानवीय उत्पीड़न के लिए जिम्मेदार कट्टरपंथी सांप्रदायिक और नस्लवादी तत्वों तथा सरकारों के साथ बेहिचक समझौते साझेदारी के लिए पश्चिमी जनतंत्र तत्पर रहे हैं। अगर आज दुनिया गुस्से से खौल रही है तो इसके लिए 18वीं-19वीं सदी की दरारें नहीं, बल्कि पिछली आधा सदी में भूमंडलीकरण के अभियान का संचालन ही जिम्मेदार है।

भूमंडलीकरण अमेरिकी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था एवं उपभोगवादी जीवनशैली का ही पर्याय है और बीसवीं सदी के 1970-80 वाले दशकों में ही इसका आविर्भाव हो चुका था। नव साम्राज्यवाद, सांस्कृतिक उपनिवेशवाद आदि विशेषणों से जिस घटनाक्रम को संबोधित किया जाता था, उसमें और भूमंडलीकरण में भेद करना कठिन होता जा रहा है। नाम बदल कर यदि वैश्वीकरण कर भी दिया जाए तो यह क्रम बरकरार नहीं रखा जा सकता कि यह प्रक्रिया परस्पर अंतरनिर्भरता को बनाने वाली और जनतांत्रिक है। अमेरिका हाल के वर्षों में जिस तरह सत्ता परिवर्तन द्वारा ऊपर से 'जनतंत्र' को बलपूर्वक आरोपित करने का प्रयास करने को बाध्य हुआ है, उससे यही प्रमाणित होता है कि भूमंडलीकरण बिना इस महाशक्ति के सैनिक बल के बचा नहीं रह सकता। जिस बाजार के तर्क की दुहाई भूमंडलीकरण के पक्ष में दी जाती है, उसके दोहरे मानदंड जगजाहिर हैं। अन्य देशों के कच्चे माल और बाजार तक अपनी पहुंच तो अमेरिका अबाध चाहता है, पर अपने संसाधनों तथा बाजार को बाहरी 'हमलावरों' से संरक्षित रखने के लिए कमर कसे है—खासकर श्रमिकों, कारीगरों, शरणार्थियों के सदर्थ में। सांप्रदायिक राग-द्वेष, नस्लवादी वैमनस्य की जड़ अमेरिका की नीतियों में ही गहरी दबी है। हिंदुस्तानी उपमहाद्वीप के नौजवान हिंदू श्रेष्ठता के ध्वजधारक फासीवादी हिटलर के प्रेमियों के सत्ताग्रहण करने से उतना बौखलाए नहीं हैं, जितना धर्मनिरपेक्ष और आधुनिक-प्रगतिशील समझे जाने वाले राजनैतिक दलों द्वारा विदेशी पूंजी के दबाव में अमानवीय भूमंडलीकरण को निर्ममता से गतिशील बनाने वाली नीतियों को लागू करने से। यह समझने के लिए ज्यादा बुद्धि की आवश्यकता नहीं कि भाजपा-मोदी की जीत के लिए भारतीय मतदाता का यूपीए सरकार से मोहभंग और उसके प्रति गुस्सा ही सबसे ज्यादा जिम्मेदार रहा है। रूसो, वॉल्टेयर, तालीरां आदि की याद ताजा कराना व्यर्थ है।

पंकज मिश्रा जितने व्यापक फलक पर चौड़ी कूची से रंग भरते हैं, उसमें स्थानीय सामयिक ब्यौरों की अन्वेषी ही हो सकती है। अगर पाठक चमत्कारी पांडित्य या वाकपटुता से अभिभूत नहीं होता तो यही एहसास होता है कि राजनैतिक समझदारी वाले सरलीकृत सामान्यीकरणों की ही भरमार इस पुस्तक में है। पराई पूर्व प्रकाशित पुस्तकों की सामग्री अतिशय उदारता के साथ साभार ग्रहण कर अपनी भूमिका या सहमतिनुमा टिप्पणियों के साथ पेश की गई हैं।

पंकज मिश्रा ने इस पुस्तक के आमुख में यह कहा है कि इस पुस्तक को लिखने का विचार उनके मन में 2014 में उस समय आया, जब भारत के मतदाता ने 'हिंदू सुप्रीमिस्ट' तबके को जिताया था। इस पुस्तक को प्रकाशन के लिए उस समय भेजा गया जब श्वेत अमेरिकी नस्लवादी डोनाल्ड ट्रंप को अमेरिका के मतदाता ने लगभग इसी तरह के रोष के विस्फोट से जिता दिया। पता नहीं क्यों लेखक इस बुनियादी कड़वे सच से कतराता रहा है कि विकासशील देशों में ही नहीं संपन्न पश्चिम में भी वंचित-उत्पीड़ित कम नहीं। आर्थिक विषमता और सामाजिक उत्पीड़न अमेरिका को भी बुरी तरह विभाजित कर चुका है। ट्रंप की जीत और जीत के बाद भी उनका लगातार विरोध इसी बात का सूचक है कि आक्रोश के बीज इस्लामी कट्टरपंथी या हिंदू श्रेष्ठत्व की दावेदारी के विरुद्ध प्रतिक्रिया में ही नहीं दूढ़े जा सकते। ट्रंप की तरह मोदी की जीत भी यही दर्शाती है कि दुनिया के दूसरी सबसे बड़ी आबादी वाले जनतंत्र में भी 'प्रतिगामी' विचारों के समर्थकों की कमी नहीं। 1930-40 वाले दशक में यूरोप के अनुभव के आधार पर फासीवादी तानाशाही की पदचाप की चेतावनी हो या 18वीं-19वीं सदी के विचारकों की दार्शनिक बहसों 2017 की दुनिया के सरोकारों से अलग-थलग लगती हैं। इसका सबसे बड़ा कारण उस पश्चिमी जनतंत्र का विकृत होना है, जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध में नस्लवादी तानाशाही को पराजित किया था। विकृत तानाशाही को असफल या पथभ्रष्ट साम्यवादी क्रांति से बेहतर समझना घातक गलतफहमी ही कही जा सकती है।

ऐसा लगता है कि जल्दबाजी में ही इस पुस्तक का शोध और लेखन-प्रकाशन हुआ है।

अब सवाल यह बचा रहता है कि इस पुस्तक की कोई उपयोगिता भारतीय पाठक के लिए-खास कर प्रतियोगी परीक्षाओं के प्रत्याशियों के लिए है या नहीं?

हमारी समझ में इस पुस्तक को दो तरह से पठनीय समझना चाहिए। निश्चय ही जिस विषय को छेड़ा गया है, वह गंभीर विमर्श के उपयुक्त है। वर्तमान विश्वव्यापी आक्रोश के विस्फोट और संक्रमण के दूरगामी राजनैतिक-आर्थिक प्रभाव अनिवार्यतः हम सभी के जीवन को प्रभावित करेंगे। इसलिए जिन सवालों ने लेखक को यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा दी है, उनसे सभी का रूबरू होना परमावश्यक है। इसके अलावा योग्य प्रत्याशी परीक्षार्थी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामयिक पुस्तकों से परिचित हो तथा विख्यात लेखकों के बारे में जानकारी रखता हो। आप भले ही पंकज मिश्रा अथवा अमिताभ घोष की स्थापनाओं से असहमत हों इनसे अनजान नहीं रह सकते।

जो पाठक यूरोपीय इतिहास से परिचित हैं, उनके लिए विभिन्न अध्यायों में रोचक-पूरक सामग्री सुलभ है, जिससे वह अपने उत्तरों की गुणवत्ता बढ़ा सकते हैं, हालांकि अनावश्यक विस्तार के कारण यहां भी सावधानी बरतने की जरूरत है। लंबे-लंबे उद्धरणों से अपने काम की पंक्ति छोट कर अलग करना सहज नहीं। जो दो अध्याय सामयिक महत्व के हैं, वह धर्म और क्रांति और राष्ट्रवाद पर केन्द्रित हैं। हमारी समझ में यदि लेखक ने बीसवीं सदी के अंतिम चरण से अब तक राष्ट्र राज्य की अवधारणा में, उसकी संप्रभुता के लिए उत्पन्न संकट तथा साम्यवादी क्रांतियों (रूसी-चीनी समेत) की विफलता के मद्दे नजर धार्मिक उन्माद या पौराणिक मिथकीय मसीहाई विचारों के संक्रमण का ही विश्लेषण किया होता तो बेहतर होता।

यह सवाल और समीक्षक भी उठा चुके हैं कि अगर वर्तमान आक्रोश के ऐतिहासिक कारण ही तलाश करने हैं तो 18वीं सदी से कई सदी पहले लौटने की जरूरत है। एशियाई/इस्लामी इतिहास आधुनिक यूरोप के इतिहास से कहीं अधिक पुराना है और विभिन्न समाजों की जातीय स्मृतियां यूनानी-रोमन-ईसाई परंपरा तक सीमित नहीं।

गल्प साहित्य का लेखक होने के कारण पंकज मिश्रा ने कल्पना की उड़ान तो ऊंची भरी है, पर उनकी विहंगम दृष्टि जमीनी हकीकत को आत्मसात् करने में असमर्थ रही है। पक्षधर भावावेश तटस्थ तार्किक बुद्धि का स्थान नहीं ले सकता। वादविवाद प्रतियोगिता में जिस वक्ता के कौशल से श्रोता को जीता जा सकता है, उससे समाजविज्ञानी शास्त्रार्थ में दिग्विजय की आशा नहीं की जा सकती।



प्रो. पुष्पेश पंत

भारत का चीन के साथ संबंध सदियों पुराने हैं और आमतौर पर हम यह मान कर चलते हैं कि लंबे समय तक यह मैत्रीपूर्ण और परस्पर फायदेमंद रहे हैं। मगर इस बात को भुलाना नामुमकिन है कि 1962 वाली सैनिक मुठभेड़ में करारी हार के बाद शायद ही कोई वर्ष बिल्कुल तनावरहित रहा हो। राजनयिक संबंधों के समानीकरण के बाद और आर्थिक संबंधों में अप्रत्याशित विस्तार के बावजूद सरहद पर चीन की सैनिक घुसपैठ भारत के लिए सरदर्द पैदा करती रही है। कभी दलाईलामा के बहाने चीन भारत को धौंस-धमकी सुनाता है, तो कभी जम्मू-कश्मीर राज्य के निवासियों के पासपोर्ट पर अपना वीजा अलग से नत्थीकर दुनिया को यह संदेश देता है कि जम्मू-कश्मीर राज्य उसकी नजर में भारत का अभिन्न अंग नहीं, बल्कि एक विवादग्रस्त भू-भाग है। इससे भी अधिक गंभीर चिंता का विषय चीन द्वारा पाकिस्तान को लगातार भारत के विरुद्ध सैनिक और सामरिक सहायता देना है। इस बात को कोई भी नहीं नकार सकता कि पाकिस्तान कट्टरपंथी इस्लामी आतंकवादियों को शरण देता है और उन्हें प्रायोजित ढंग से भारत को अस्थिर करने के लिए सरहद पार भेजकर दहशतगर्द हमले करवाता रहा है। इस सब को अनदेखा कर चीन भारत-पाक विवाद में तटस्थ मित्र की भूमिका निभाने का हठ पाले रहा है। कुल मिलाकर जहां तक भारत का प्रश्न है, उसके लिए चीन और पाकिस्तान दोनों ही शत्रुवत आचरण करने वाले पड़ोसी सिद्ध हुए हैं। ऐसे पड़ोसी जो भारत को परेशानी में डालने के लिए सैनिक संधि

ड्रैगन ऑन आवर डोर स्टेप

मैनेजिंग चाइना थ्रू मिलेट्री पावर

लेखक: प्रवीर सोनी और गजला वहाब

मित्रों की तरह आचरण करते हैं। भारत की विदेशनीति हो या उसकी आंतरिक सुरक्षा चीन और पाकिस्तान की जुगलबंदी एक बुरी तरह उलझी हुई गुत्थी है जिसको सुलझाना दुभर रहा है। इसी संदर्भ में प्रस्तुत पुस्तक सामयिक और अत्यंत महत्वपूर्ण समझी जा सकती है।

पुस्तक के लेखक प्रवीर सोनी कई वर्ष तक भारतीय सेना में अफसरी के बाद सामरिक मामलों पर केन्द्रित फोर्स नामक पत्रिका के संपादक है। वह इंग्लैण्ड के प्रतिष्ठित रॉयल यूनाइटेड सर्विसेज इंस्टिट्यूट फॉर डिफेंस एण्ड सिविलियरिटी स्टडीज तथा अमेरिका के कॉर्पोरेटिव मोनिटरिंग सेन्टर जैसे संस्थानों में शोध कर चुके हैं। इसके अलावा ब्रिटेन से छपने वाली और अत्यंत विश्वसनीय समझे जाने वाली जैन्स इंटरनेशनल डिफेंस रिव्यू के संवाददाता के रूप में काम करते हैं। उन्होंने सैनिक सामरिक विषयों पर केन्द्रित दो चर्चित पुस्तकें भी लिखी हैं, जिनमें ऑपरेशन पराक्रम: 'दि वॉर अनफिनिशड' चर्चित रही है। पत्रकार के रूप में वह टाइम्स ऑफ इंडिया और इंडियन एक्सप्रेस में काम कर चुके हैं। उनकी सहयोगी लेखिका इस पुस्तक के लेखन में उनकी साझेदार रही है और इससे पहले टेलिग्राफ तथा एशियन ऐज अखबारों में काम कर चुकी है। लेखकों की पृष्ठभूमि का थोड़ा विस्तार से जिक्र इसलिए किया जाना जरूरी है कि यह बात रेखांकित की जा सके कि लेखकों को न केवल सेना के बारे में और सामरिक मामलों के विषय में पेशेवर विशेषज्ञता और अनुभव प्राप्त है, बल्कि पत्रकार के रूप में नीति-निर्धारको, नेताओं, नौकरशाहों तक भी उनकी पहुंच के कारण उनकी जानकारी का भण्डार काफी विशाल और विश्वसनीय है।

पुस्तक को भूमिका के अलावा 9 अध्यायों में बाँटा गया है और अंत में 'जीत की रणनीति' को सुझाने वाला उपसंहार भी जोड़ा गया है। पहले अध्याय के तीन छोटे-छोटे भाग हैं जिनमें चीनी खतरे, नियंत्रण सीमारेखा की बाध्यता और वास्तविक नियंत्रण रेखा के दुस्वप्न का वर्णन और विश्लेषण किया गया है। इन पंक्तियों के लेखक की राय में प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी करने वाले छात्रों के लिए यही पचास-साठ पन्ने सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को सारगर्भित तरीके से प्रस्तुत करने के बाद लेखक ने जरा विस्तार से 'सीमांत', 'सरहद' के अंतर को समझाने का प्रयास किया है और इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि कैसे एक भू-राजनैतिक विवाद को टालने के शांतिप्रेमी नेहरू के प्रयासों ने भारत के लिए भविष्य में विस्फोटक समस्या को विकराल बनाया है। यह सच है कि चीन के साथ हिमालयी सीमांत पर भूमिवाद की जड़े बर्तानवी औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के दौर में तलाशी जा सकती हैं, पर यह भी सच है कि स्वाधीन भारत में नेहरू युग के पहले चरण में हमने बड़े अदूरदर्शी ढंग से खुद को भू-राजनैतिक संदर्भ में अंग्रेजों का उत्तराधिकारी मान लिया। अनेक इतिहासकार इस तथ्य की पुष्टि कर चुके हैं कि 1913-1914 वाले शिमला सम्मेलन में चीनी प्रतिनिधि ने मैक माहोन लाइन को अन्तर्राष्ट्रीय सीमारेखा स्वीकार करने से इंकार कर दिया था। यह बात याद रखने लायक है कि उस समय चीन ब्रिटेन की तुलना में बहुत कमजोर राज्य था। आज चीन उतना खस्ताहाल नहीं और यह कल्पना कठिन है कि वह किसी ऐसी सीमा को स्वीकार कर सकता है, जो उस पर जबर्दस्ती थोपी गई हो। आज वह सैनिक और आर्थिक दोनों ही

दृष्टि से ताकतवर है और स्वयं को अपने अधिकारों की रखवाली में समर्थ समझता है। 1949 में भी जब माओ ने जनवादी चीनी गणतंत्र की स्थापना की और इसके कुछ ही समय बाद चीन ने तिब्बत को बलप्रयोग से 'आजाद' कराकर यह संदेश देते देर नहीं लगाई थी कि वह औपनिवेशिक सीमाओं को या आधिपत्य को स्वीकार करने वाला नहीं। भारत ने उस घड़ी तिब्बत पर चीन के प्रभुत्व (सुजरेनिटी) को स्वीकार करते देर नहीं लगाई। इससे चीन के मन में यह धारणा प्रबल हुई कि भारत 'ऐतिहासिक' सीमा के पुनर्सीमन के लिए सहमत है।

1950 से लेकर 1954-1955 तक चीन और भारत के संबंध काफी मधुर रहे। इसका कारण यह था कि भारत और चीन के बीच राजनयिक संवाद के बाद जिस पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर किए गये, वह चीनियों की नज़र में उनके विश्व दर्शन को स्वीकार करता था। सभी विवादों का शांतिपूर्ण समाधान हो या एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप का त्याग। यह तभी संभव हो सकते हैं, जब दो राज्यों के बीच की सीमा सुस्पष्ट हो और इसके बारे में कोई मतभेद ना हो। इसके अभाव में किसी भी घटनाक्रम को दूसरे के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप कहा जा सकता है। पुराने ब्रिटिश मानचित्रों के आधार पर अपना दावा पेश करने वाले भारतीयों को बहुत जल्द ही चीन की ऐसी आपत्तियों का सामना करना पड़ा, जिनके बाद सीमा विवाद का कोई समाधान नहीं हो सकता था। इसी का नतीजा 1958-1959 में लद्दाख क्षेत्र में सैनिक मुठभेदों में हुआ जिनमें दर्जन से अधिक भारतीय सैनिक मारे गए। अगले दो वर्षों में सीमा पर तनाव लगातार बढ़ता गया और अंततः 1962 में चीन और भारत के बीच एक युद्ध लड़ा गया, जिसमें भारत की शर्मनाक हार हुई। इस पुस्तक में भारत-चीन सीमा विवाद का बहुत विस्तार से सर्वेक्षण नहीं किया गया है और न ही इसकी कोई जरूरत थी। पर तब भी समसामयिक भारत-चीन संबंधों की पड़ताल तटस्थता से करने के लिए जिन सब जानकारियों की जरूरत है, वह यहां सुलभ कराई गई है।

दूसरे भाग में चीन की विश्वव्यापक रणनीति का (ग्रेन्ड स्टेटर्जी) सर्वेक्षण किया गया है। इस भाग में भी तीन छोटे-छोटे

अध्याय हैं। पहले अध्याय में यह दिखलाया गया है कि कैसे शीतयुद्ध धीरे-धीरे कम से कम क्षेत्रीय रणक्षेत्र में पारंपरिक युद्ध में बदलता गया और दूसरे अध्याय में इस स्थापना को परखने की कोशिश की गई कि क्या वास्तव में आज युद्ध वाला विकल्प शेष नहीं रह गया है? यहां एक छोटे से विषयांतर की जरूरत है। चीन हो या पाकिस्तान भारत में अक्सर यह कहा जाता है कि इन पड़ोसियों के साथ युद्ध विकल्प नहीं। पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने यह घोषणा की थी कि हम अपने पड़ोसी चुन या बदल नहीं सकते और नहीं उनके साथ हमेशा संघर्षरत रह सकते हैं। यहां यह जोड़ने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि हम भले ही अपने पड़ोसी चुन सकते हो या ना चुन सकते हो, हम यह जरूर अपने राष्ट्रहित अपने विवेक के अनुसार तय कर सकते हैं कि अपने पड़ोसियों के साथ हमारे संबंध दोस्ती वाले रहेंगे या दुश्मनी वाले? इस भाग के तीसरे अध्याय में लेखक ने इस बात को उजागर किया है कि चीन की रणनीति इस सोच पर आधारित है कि भारत युद्ध को विकल्प नहीं समझता। इसी कारण वह निरंतर बल प्रयोग और सैन्य शक्ति के प्रदर्शन के द्वारा हमारा राजनयिक भयादोहन करता रहता है। युद्ध के विकल्प को त्यागने लगभग वर्जित समझने की बड़ी कोमत भारत को चुकानी पड़ी है।

तीसरे भाग में सिर्फ एक अध्याय है, जिसमें भारत के लिए 'उपलब्ध' विकल्पों का तुलनात्मक मूल्यांकन किया गया है। जाहिर है कि पुस्तक के लेखकों का पूर्वाग्रह और उनकी पक्षधरता चीन की चुनौती का सामना सैनिक और सामरिक विकल्प से करने वाला है। अतः राजनयिक विकल्पों का आसानी से खारिज किया गया है। यह बात जरा अटपटी लगती है कि जब लेखकों का मानना यह है कि यदि आज भारत और चीन अथवा भारत और पाकिस्तान के बीच कोई युद्ध होता है तो हार भारत की ही हो सकती है, तब फिर चीन की चुनौती का सामना करने के लिए सैनिक विकल्प की सिफारिश की जा रही है। इसके पहले दोनो लेखक इस बात पर जोर देते हैं कि भारतीय सेनानायको की और सैनिकों की मानसिकता मूलतः रक्षात्मक है और चीन हो या पाकिस्तान दोनो ही इस बारे में कामयाब रहे हैं कि भारतीय अपनी जमीन की रक्षा के

लिए नियंत्रण रेखा के पीछे रहकर ही लड़ाई लड़ने की तैयारी करते रहे हैं और उन्होंने सरहद पार कर अर्थात वास्तविक नियंत्रण रेखा की घेराबंदी से निकल शत्रु की जमीन पर आक्रामक वार करने की कोई तैयारी आजतक नहीं की गई है।

पुस्तक का चौथा भाग कश्मीर पर केंद्रित है। इस भाग में भी तीन अध्याय हैं, पहले में राजनैतिक पक्ष (दलगत-राजनैतिक रस्साकशी) का अध्ययन किया गया है, तो दूसरे अध्याय में लद्दाख की संकटग्रस्त स्थिति की अलग से पड़ताल की गई है। तीसरा अध्याय आर्म फोर्सिंस स्पेशल पावर्स एक्ट के कारण पैदा असंतोष के साथ-साथ कश्मीर की घाटी में अलगाव और आक्रोश के दूसरे कारकों पर दृष्टिपात किया गया है।

पाचवें भाग के दो अध्याय पाकिस्तान को समर्पित हैं। जो कि कश्मीर और चीन के संदर्भ में बहुत सारी पाकिस्तान से संबंधित जानकारी का उल्लेख अब तक कश्मीर या शीतयुद्ध के संदर्भ में हो चुका है। यहां बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद वाले घटनाक्रम पर ही ज्यादा ध्यान दिया गया है। दूसरे अध्याय का विषय पाकिस्तानी सेना है। इस पुस्तक का वरिष्ठ लेखक स्वयं सेना का अफसर रह चुका है और यह बात समझ में आती है कि वह समस्या का सैनिक समाधान ही सर्वश्रेष्ठ समझता है, पर उसके साथ इस विषय में सहमत होना कठिन है कि राष्ट्रहित विषयक सभी मामलों में सेना ही सबसे उचित फैसले कर सकती है। लेखकों का यह मानना है कि पाकिस्तान और चीन दोनो ही सफल घेराबंदी करने में इसलिए कामयाब हुए हैं, क्योंकि इन दोनो देशों में सामरिक विषयों का नीति-निर्धारण और क्रियान्वयन आला सैनिक अफसर ही करते हैं। यह नतीजा निकालना अतिसरलीकरण ही कहा जा सकता है। पाकिस्तान लंबे समय से फौजी तानाशाही रहा है और जब वहां कोई नागरिक सरकार काम कर रही होती है, तब भी असली ताकत जनरलों के हाथ में ही रहती है। जनतांत्रिक भारत के साथ उसकी तुलना करना कतई तर्कसंगत नहीं लगता।

चीन की स्थिति ज्यादा फर्क नहीं क्योंकि वहां माओवादी क्रांति की सफलता के बाद से ही साम्यवादी पार्टी की तानाशाही रही है और उस क्रांति के दौरान छापामार युद्ध पर आधारित मुक्ति संग्राम की वजह से सेना

और पार्टी के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं रही है। चोटी पर विराजमान साम्यवादी नेता, सैनिक कमान अपने हाथ में रखते रहे हैं और चोटी के जनरल पार्टी में प्रभावशाली पद साथ-साथ ग्रहण करते हैं। अतः यह कहना कि भारत को यदि अपना राष्ट्रहित संरक्षण संवर्धन करना है तो पाकिस्तान और चीन जैसा मॉडल अपनाना होगा, नादानी ही लगता है।

पुस्तक का छठा हिस्सा सैन्य शक्ति के निर्माण के लिए दिए सुझावों वाला है। इस भाग में पांच अध्याय हैं, जिनमें पहला अध्याय नये निर्णायक तंत्र की संरचना से जुड़ा है, जिसका जिक्र पहले वाले हिस्से में भी किया गया है। अगले अध्याय में भारतीय सेना का विहंगावलोकन किया गया है। आमतौर पर पाकिस्तान हो या चीन इनके बारे में बात करते हुए स्थलसेना को ही चर्चा में प्राथमिकता दी जाती है। वायुसेना और नौसेना को स्थल सेना के सहायक के रूप में ही देखा जाता है। इस असंतुलन को दूर करने का प्रयास यहां किया गया है।

इसके बाद परमाणविक विकल्प का विश्लेषण किया गया है, जिसके बाद टेक्नॉलोजी के आयात और भारत में स्वदेशी रक्षा उद्योगों के विकास को अगले अध्यायों का विषय बनाया गया है। जहां तक परमाणविक विकल्प का प्रश्न है, इसका बहुत विस्तार से अध्ययन भरत कर्नाड जैसे विशेषज्ञ-विश्लेषक कर चुके हैं और ऐसा जान पड़ता है कि यहां सिर्फ नामोल्लेख भर के लिए इस जटिल विषय को बस छूकर छोड़ दिया गया है। यह बात सर्वविदित है कि आज भारत दुनिया के सभी देशों में सैनिक साझा-सामान का सबसे बड़ा आयात करता है। हम न केवल रूस और अमेरिका जैसे पारंपरिक स्रोतों से हथियारों और विमान-पोतों आदि का आयात करते हैं, बल्कि विक्रेता देशों की सूची में इज्राइल जैसे नये नाम भी जुड़ चुके हैं। लेखकों का मानना है कि भारत के लिए आज भी अमेरिका की अपेक्षा रूस से सामरिक सामग्री का आयात बेहतर विकल्प है, क्योंकि रूस ने गाढ़े वक्त में हमारी मदद की है। लेखक यह भी जोड़ते हैं कि यदि मैं अमेरिकी सैनिक साझा-सामान के आयात वाले विकल्प को चुनते हैं तो इससे चीन की आशंकाएं बढ़ सकती हैं। वह यह भी दोहराते हैं कि चीन बड़ी मात्रा में

पाकिस्तान को सैनिक साझा-सामान सुलभ कराता रहा है। विडंबना यह है कि लेखकों को अपने ही तर्क के अंतर्विरोध नज़र नहीं आते।

इस पुस्तक का उपशीर्षक है कि चीन की चुनौती का सामना करने के लिए सैनिक बंदोबस्त फिर हमें इस बारे में चीन की आशंकाओं के प्रति संवेदनशील रहने की आखिर क्या जरूरत है भला? यह बात याद रखने की जरूरत है कि आज का रूस तीन-चार दशक पहले वाला वह साम्यवादी सोवियत संघ नहीं जो गुटनिरपेक्ष भारत को सामरिक महत्व के कारण स्वाभाविक मित्र और राजनयिक साझेदार समझता था। यह सुझाना भी ठीक नहीं कि आज का भारत गुटनिरपेक्ष है या अमेरिका और रूस के बीच सम-सामीप्य बनाए रखना चाहता है। एनडी-1 के कार्यकाल से ही भारत और अमेरिका के संबंधों में अप्रत्याशित और अभूतपूर्व सुधार हुआ है। अतः यह सोचना कि अमेरिका के करीब आने के कारण भारत को चीन शक की निगाह से देखने लगेगा, बुद्धिमानी नहीं। इसके अलावा पिछले कई दशक से चीन और अमेरिका के संबंध भी निरंतर सुधरते रहे हैं और भले ही अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर दोनों एक-दूसरे को अपना प्रमुख प्रतिद्वंद्वी समझते हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि भारत के कारण इनके उभयपक्षीय रिश्ते या विश्वव्यापी रणनीति प्रभावित हो सकती हैं। मोदी ने सत्ता ग्रहण करने के बाद स्वदेश में ही रक्षा उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए बड़े औद्योगिक घरानों को प्रोत्साहित करने के लिए पेशकश की है। यह तो आगामी समय ही बतलाएगा कि अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा का मुकाबला करने में भारतीय उद्यमी कितने सफल होते हैं? सबसे बड़ा सवाल गुणवत्ता और सैनिक साझा-सामान की खरीद-फरोख्त में भ्रष्टाचार से जुड़ा हुआ है। डी.आर.डी.ओ जैसे संगठन ने भारत को इस क्षेत्र में स्वालंबी बनाने के लिए जिन चीजों का निर्माण किया है। उनमें से अधिकांश को अपनी गुणवत्ता की कसौटी पर कसने के बाद सेना खारिज करती रही है- इस अकाट्य तर्क के साथ कि युद्ध के समय जीवन-मरण के बीच संघर्षरत वर्दीधारियों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले उपकरण और हथियार उत्कृष्टतम ही होने चाहिए और गुणवत्ता के मामले में

कोई रियायत नहीं बर्दाश्त की जा सकती। दूसरी तरफ सैनिक साझा-सामान की खरीद में जिन बड़े-बड़े भ्रष्टाचारी घोटालों का पर्दाफाश हुआ है, उनको देखकर यह लगता है कि गुणवत्ता का इस्तेमाल ढाल-तलवार की तरह कर किसी ना किसी तरह आयात के सौदों को जारी रखने का प्रयास ही डी. आर.डी.ओ का पंगु बनाता रहा है।

इस संदर्भ में भी पुस्तक के लेखकों के तर्क जटिल यथार्थ का बेहद सरलीकृत उदाहरण जान पड़ते हैं। इस समस्या के जिस आयाम को इस पुस्तक में नजरदांज किया गया है वह यह है कि अत्याधुनिक टेक्नॉलॉजी के सीमांत पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की गुणवत्ता को बारंबार प्रदर्शित करने वाले इसरो को जब डीआरडीओ की क्षमता यथेष्ट लगती है तब सेना की शिकायतें बहुत जायज नहीं लगतीं। जहां तक निजी क्षेत्र के उद्यमियों को समर्थ बनाने का प्रश्न है, यह बात भी याद रखी जानी चाहिए कि क्या बिना किसी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगी-साझेदार के ऐसा संभव है? यह बात भी भुलाई नहीं जानी चाहिए कि कोई भी बड़ी शक्ति भारत को ताकतवर नहीं देखना चाहती। इसका अच्छा उदाहरण पोखरण द्वितीय के बाद भारत पर लगाए गए टेक्नॉलॉजी प्रतिबंध है, भले ही निषेध के आदेश देने वालों में अमेरिका सर्वप्रथम था, पर बहुत शीघ्र कनाडा, फ्रांस, जर्मनी और रूस तर्क इस सूची में जुड़ गए। यह कल्पना करना कठिन है कि जब कोई निजी क्षेत्र का भारतीय उद्यमी स्वदेश में रक्षा उत्पादन के संवेदनशील क्षेत्र में कदम रखेगा, तब अचानक यह मार्ग सुगम हो जाएगा।

सातवें भाग का विषय है - तिब्बत और इसके दो अध्यायों में चीन के साथ तिब्बतियों के संघर्ष के वर्णन के साथ-साथ दलाईलामा की भूमिका का अध्ययन किया गया है। यह बात सर्वविदित है कि जब से दलाईलामा ने भारत में शरण ली, तभी से भारत और चीन के बीच की दरार और गहरी हो गई है। चीन को लगता रहा है कि भले ही नेहरू ने तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था, पर वह अवसर पाते ही चीन में बागियों को सहायता दे, ऐसा उपद्रव पैदा करने की इच्छा रखते हैं, जिससे तिब्बत पर चीन का नियंत्रण कमजोर हो। यह बात ध्यान में रखने लायक है कि लगभग दो हज़ार मील से भी अधिक लंबी भारत-चीन सीमा

तिब्बती प्रांत के साथ ही जुड़ी है, दक्षिण तिब्बत नाम से चीन जिस भू-भाग का वर्णन करता है, वह भारत का अरूणाचल प्रदेश ही है। दिलचस्प बात यह है कि इस सरहद का जो हिस्सा पाक अधिकृत कश्मीर के गिलगिट और वाल्टिस्तान वाले प्रदेश में स्थित है, चीन उसे भारत-चीन सीमा का हिस्सा नहीं मानता। विडंबना यह है कि अक्साईचिन वाला यह इलाका सामरिक दृष्टि से सबसे अधिक संवेदनशील है। जब भारत लद्दाख में चीनी घुसपैठ पर आपत्ति दर्ज करता है, तब चीन की दलील हमेशा यही रहती है कि वह जो कुछ कर रहा है अपनी जमीन पर या अपने मित्र पाकिस्तान द्वारा सौंपी उस जमीन पर कर रहा है, जिसके साथ भारत का कुछ लेना-देना नहीं।

विडंबना यह है कि नेहरू के जीवनकाल में 1962 के बाद पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति अयूब खान ने चीनी घुसपैठ के बारे में संयुक्त आपत्ति दर्ज कराने की पेशकश की थी, पर पाकिस्तान को अमेरिका का संधि मित्र समझने वाले नेहरू ने इस पहल को स्वीकार नहीं किया। बाद में पाकिस्तान ने भारत की घेराबंदी के लिए चीन को नये रेशम राजमार्ग के निर्माण हेतु यह जमीन सौंपने का फैसला कर इस संभावना को हमेशा के लिए नष्ट कर दिया। आज चीन और पाकिस्तान ही नहीं अमेरिका तक यह सुझाने लगा है कि कारगर से ग्वाटर के बंदरगाह को जोड़ने वाला यह नया रेशम राजमार्ग पाकिस्तान और चीन के ही नहीं, समस्त दक्षिण एशिया के हित में और भारत को इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। भारत के एक पूर्व विदेश सचिव श्याम सरण ने अपने संस्मरणों में एक उस घटना का उल्लेख किया है, जब श्रीमती गांधी के कार्यकाल में चीन सरकार ने यह प्रस्ताव सामने रखा था कि यदि भारत अकसाई चिन वाले भू-भाग पर चीन का स्वामित्व स्वीकार कर ले तो पूर्व में अरूणाचल पर अपनी दावेदारी छोड़ने के विषय में चीन सोच सकता है। पर इस बार भी भारत ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर सीमा विवाद को स्थाई रूप से निपटाने का अवसर गंवा दिया।

इन पंक्तियों के लेखक की राय में यह सूचना एक खतरनाक गलतफहमी है कि चीन के किसी भी ऐसे प्रस्ताव को विश्वसनीय समझा जा सकता है। तात्कालिक समाधान

को चीन भविष्य में कभी भी खारिज कर सकता है और हाशिए से परे धकेल सकता है, जैसा उसने पंचशील समझौते के साथ किया था।

पुस्तक के आठवें भाग में उन बगावती उपद्रवों का अध्ययन किया गया है, जिन्हें आमतौर पर माओवादी या नक्सली कह कर पुकारा जाता है। भारत के सात राज्यों के लगभग 300 सौ जिले कमोबेश अतिवामपंथी हिंसक उपद्रव की चपेट में बरसों से रहे हैं और इस लाल पट्टी को फैलने से रोकने के लिए बड़े पैमाने पर सैनिक और सह-सैनिक दस्ते आदिवासी जंगली इलाकों में तैनात हैं। इस सिलसिले में लेखकों ने एक बहुत महत्वपूर्ण और खतरनाक मुद्दे की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। उनका मानना है कि अलगाववादी तत्वों की वर्षों से जम्मू कश्मीर राज्य में और बीच में खालिस्तानी आन्दोलन के दौरान पंजाब में सक्रियता के कारण भारतीय फौज की मानसिकता 'काउन्टर इनसर्जन्सी' अभियानों के लिए ही दक्षता हासिल करने वाली बन चुकी है। इसके साथ ही उसके पारंपरिक युद्ध लड़ने के कौशल का क्षय हुआ है। लेखक ने बड़े विस्तार से उदाहरण और प्रमाण सहित यह बात स्पष्ट की है कि कैसे ऑपरेशन पराक्रम के समय भारत की यह कमजोरी जगजाहिर हो गई थी। इस बारे में गंभीरता से सोचने की जरूरत बाकी है।

पुस्तक के अंतिम भाग में हिन्द महासागर के क्षेत्र में चीन के आक्रामक विस्तारवाद और भारत के सामरिक हितों के लिए इससे उत्पन्न जोखिम का सर्वेक्षण किया गया है। पर जितने विस्तार की अपेक्षा थी, उसके दर्शन नहीं होते।

उपसंहार बहुत संक्षिप्त है और ऐसा जान पड़ता है कि यहां तक पहुंचते-पहुंचते लेखकों की जोड़ी ने जो कुछ भर कहना था कह दिया और कोई मौलिक सुझाव उनके पास बचा नहीं था।

समीक्षक के लिए असंतोष का एक विषय यह भी है कि पुस्तक के अंत में स्रोतों या संदर्भ ग्रंथों की सूची नदारद है और टिप्पणियां वाक्यांशों और उद्धरणों के संदर्भ भर प्रस्तुत करती है और यहां

भी विश्लेषणात्मक दिखने वाली टिप्पणियां पूर्व प्रकाशित सार्वजनिक जानकारी का ही रूपांतर है।

पुस्तक की जिल्द पर पूर्व स्थलसेनाध्यक्ष जनरल वी.पी. मलिक, पूर्व नौसेनाध्यक्ष एडमिरल अरूण प्रकाश और पूर्व वायुसेनाध्यक्ष एयरचीफ मार्शल फालीहोमी मैजर की प्रशंसात्मक टिप्पणियां छापी गई हैं। इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि इन सेनानायक लेखकों के सभी निष्कर्षों से सहमत है। हां, यह जरूरत है कि राष्ट्रहित के संदर्भ में सेनानायकों को महत्वपूर्ण भूमिका सौंपने के पक्षधर यह सभी है। इनके अलावा भारतीय मूल के अमेरिकी सामरिक विशेषज्ञ एशले टेलिस और अमेरिकी नेवल वॉर कॉलेज के एक प्रोफेसर की राय भी यहां शामिल की गई है। इन सभी ने पुस्तक को महत्वपूर्ण उपयोगी और पठनीय घोषित किया है। मजेदार बात यह है कि सैनिक तैयारी से ही युद्ध के विकल्प को टाला जा सकता है, वाली स्थापना अंतरविरोधग्रस्त लगती है। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जिनसे पता चलता है कि सैनिक तैयारी से न्यूनशक्ति में वृद्धि का प्रयास अक्सर शस्त्रों की दौड़ को प्रोत्साहित करता है और इसी कारण राजनयिक विकल्प ही स्थाई शांति की स्थापना के लिए बेहतर समझा जाता रहा है। कुल मिलाकर ऐसा जान पड़ता है कि नागरिक सरकार को सर्वोच्च समझने वाली भारत की जनतांत्रिक व्यवस्था को कमजोर करने वाले तबके को ही यह पुस्तक समर्थन देती है। एक ओर वह सेनानायकों को नीति-निर्धारण में प्राथमिकता देने की वकालत करती है तो दूसरी ओर चीन और पाकिस्तान दोनों के ही संदर्भ में अब तक के दुखद अनुभव के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नागरिक सरकार या राजनयिकों को ही जिम्मेदार ठहराती है। चीन या पाकिस्तान की जिम्मेदारी या उसके शासकों की दुस्सासिकता का उल्लेख इस पुस्तक में जरूरी नहीं समझा गया।

कुल मिलाकर पुस्तक कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठाती है और उनके अन्तरसंबंधों को भी उजागर करती है। पुस्तक विचारोत्तेजक और उपयोगी है, पर यह परमावश्यक है कि लेखकों के बताए नुस्खों को आंखमूंदकर रामबाण औषधि की तरह ग्रहण न किया जाए।



मणिकांत सिंह

किसी सम्मानित अध्यापक या प्रतिष्ठित बौद्धिक के सम्मान में उसके शिष्यों तथा प्रशंसकों द्वारा संकलित लेखों के प्रकाशन की परंपरा है। प्रस्तुत पुस्तक इसी परंपरा का निर्वाह करती है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग में कई दशक अध्यापन और शोधरत प्रभात पटनायक से प्रभावित अध्यापकों, राजनेताओं, सक्रिय आंदोलनकारियों ने एकजुट हो यह श्रद्धा सुमन समर्पित किया है। जिन लेखकों के विचार इसमें संकलित हैं, उनमें प्रभात की तरह अर्थशास्त्री ही नहीं, राजनीति शास्त्र के अध्येता तथा साहित्य और कला के अनुशासनों से जुड़े चिंतक भी हैं। यह जोड़ने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि यह सभी एक खास विचारधारा (भारतीय मार्क्सवादी पार्टी) से प्रतिबद्ध बौद्धिक हैं, क्योंकि प्रभात पटनायक स्वयं इसी दल के कार्यकारी सदस्य हैं। इनमें माकपा के पूर्व महासचिव प्रकाश करार, वर्तमान महासचिव सीताराम येचुरी के साथ-साथ साम्यवादी पश्चिम बंगाल सरकार के पूर्व वित्त मंत्री अशोक मित्रा और अलीगढ़ विश्वविद्यालय के भीष्म पितामह इतिहासकार प्रोफेसर इरफान हबीब प्रमुख हैं। विदेश में कार्यरत प्रसिद्ध प्राध्यापकों-सार्वजनिक बौद्धिकों में एजाज अहमद और अकील बिलग्रामी उल्लेखनीय हैं। हाल के वर्षों में निरंतर विवादस्पद रहीं तीस्ता सीतलवाड़ भी यहां उपस्थित हैं।

यहां तत्काल यह जोड़ने की आवश्यकता है कि भले ही यह सभी 'एक ही खेमे के लोग' हैं। इस नतीजे तक पहुंचने की

इंटरप्रेटिंग द वर्ल्ड टू चेंज इट

एसेज फॉर प्रभात पटनायक

लेखक: सीपी चंद्रशेखर

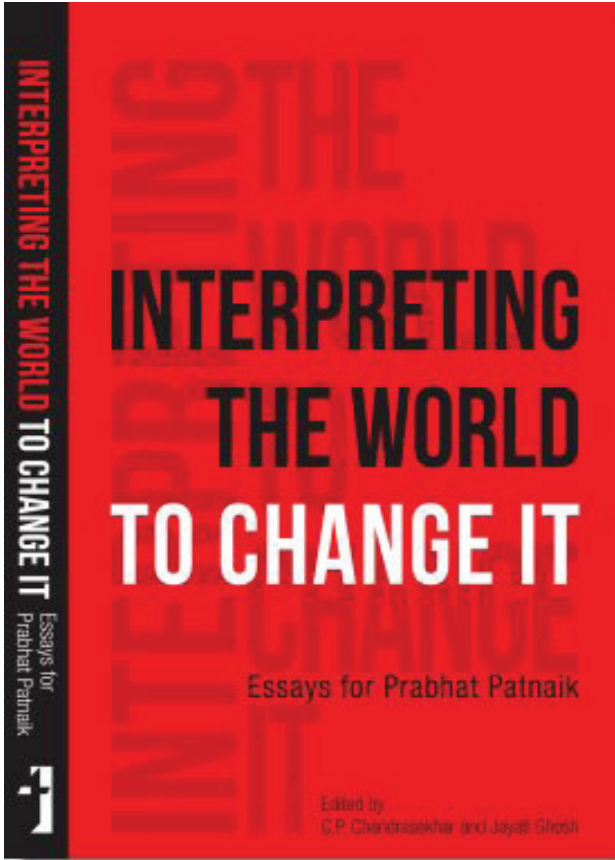
जल्दबाजी नहीं की जानी चाहिए कि इन लेखों से किसी दल विशेष के पूर्वाग्रहों और पक्षधरता की ही अपेक्षा की जा सकती है। लेखकों ने जिन विषयों को चुना है, वह समसामयिक भारत के सार्वजनिक जीवन के संदर्भ में बेहद महत्वपूर्ण हैं और किसी भी पाठक को समकालीन राजनीति और समाज तथा अर्थव्यवस्था के जटिल अंतर्संबंध समझने में सहायक हो सकते हैं। लेखकों से असहमत होने पर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अधिकांश सामग्री बहुत विचारोत्तेजक और उपयोगी है।

सबसे पहले यह स्वीकार करने में किसी को संकोच नहीं होना चाहिए कि प्रभात पटनायक भारत के सार्वजनिक बौद्धिकों की पहली पीढ़ी में हैं। उनकी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा किसी एक किताब की बिक्री या मीडिया में महिमामंडन पर आधारित नहीं। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में 1970 वाले दशक में नियुक्ति के पहले ही ऑक्सफोर्ड तथा कैंब्रिज विश्वविद्यालयों में मौलिक शोध से वह नाम कमा चुके थे। तब से अब तक लगातार लेखों, पुस्तकों के प्रकाशन के साथ-साथ देश विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों में वह पढा चुके हैं और केरल के योजना आयोग के उपाध्यक्ष के रूप में आर्थिक नीति निधिरण में भी हाथ बंटा चुके हैं। स्वयं माकपा का सदस्य रहने के बाद भी प्रभात पर कट्टरपंथी का आक्षेप नहीं लगाया जा सकता।

एकाधिक बार उनकी आलोचना उनके कौमरेडों ने पार्टी अनुशासन की अवहेलना कर अपने विवेक के अनुसार असहमति का स्वर मुखर करने के लिए की है। (चीन में दंग सियाओ पेंग की सरकार द्वारा थिएन आन मिन चौक पर युवा छात्रों के निर्मम दमन की प्रभात ने भत्सर्ना की थी)। अतः यह संतोष का विषय है कि अधिकांश लेखकों ने दलगत नारेवाजी और लफ्फाजी से परहेज किया है।

संकलित लेखों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है- प्रशंसकों तथा मित्रों के संस्मरण, राजनीति की उदीयमान प्रवृत्तियों से प्रेरित और उनसे सीधे जुड़ने वाले और अर्थशास्त्रीय सुरेकारों की पड़ताल करने वाले। जिन महत्वपूर्ण मुद्दों को केन्द्र में रख एक सार्वजनिक जनतांत्रिक बहस को गरम





और सांप्रदायिकता तथा तानाशाही मानसिकता का संयोग खतरनाक तरीके से बढ़ा है और विकराल चुनौती पेश कर रहा है। विडंबना यह है कि इस विश्लेषण को बहस के लिए स्वीकार करने के बाद भी यह जायज सवाल अनुत्तरित ही रह जाता है कि “क्यों वामपंथी, धर्मनिरपेक्ष-जनतांत्रिक ताकतें प्रतिगामी दकियानूस तत्वों का प्रतिकार करने में असमर्थ रही हैं?” यह सवाल भारत के संदर्भ में ही नहीं विश्वव्यापी पटल पर पूछा जाता रहा है। यह पुस्तक इसीलिए पठनीय है कि लगभग

डालते हैं और न ही उन सवालों को तराश कर रेखांकित करते हैं, जिनकी पड़ताल का काम अन्य लेखकों ने किया है।

पुस्तक की जान एजाज अहमद, अकील बिलग्रामी, प्रकाश करात, तीस्ता सीतलवाड और जयति घोष के लेख हैं।

एजाज अहमद ने ‘फॉलआउट्स ऑफ 1989’ में बहुत सारगर्भित तरीके से उन विश्वव्यापी घटनाओं का सर्वेक्षण किया है, जिन्होंने बीसवीं सदी के अंतिम दशक में हमारी दुनिया का कायाकल्प कर दिया। न केवल सोवियत संघ का विखंडन और रूसी साम्राज्य का विलय देखने को मिला, बल्कि पश्चिम एशिया में जारी युद्ध और शांति एवं जनतंत्र की स्थापना के नाम पर सैनिक हस्तक्षेप का वर्णन लेखक ने किया है, बल्कि अपनी विश्लेषणात्मक टिप्पणियों से उनके महत्व को समझाने का काम भी बखूबी किया है। यूरोपीय समुदाय के सदस्य देशों और संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रहितों के टकराव तथा चीनी जनवादी गणराज्य द्वारा पूंजीवादी विकल्प अपना कर साम्यवादी प्रणाली को सशक्त बनाने वाले प्रयोग का जिक्र भी इस लेख में किया गया है। बीसवीं सदी का अंतिम दशक भूमंडलीकरण के तेजी से प्रसार के लिए भी उल्लेखनीय है। यह लेख इसलिए बेहद महत्वपूर्ण है कि यह नवउदारवाद और साम्यवाद के द्वंद्व को पिछले दो दशक के भारत के अनुभव तक सीमित रख कर नहीं परखता, बल्कि इसके अंतर्राष्ट्रीय स्रोत और आयाम उजागर करता है। वित्तीय पूंजीवाद, नव साम्राज्यवाद तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के रिश्तों को समझने के लिए यह लेख बहुत उपयोगी है।

जयति घोष का लेख ‘इंस्टिट्यूशनल आर्किटेक्चर ऑफ इंपीरियलिज्म’ इसका पूरक समझा जा सकता है। जहां एजाज अहमद जड़ों की तलाश करते नजर आते हैं, वहीं जयति मजबूत तने से इधर-उधर फैलती शाखाओं की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। ‘आर्किटेक्चर’ शब्द से भवन निर्माण का बोध होता है और जान पड़ता है कि लेखिका ने बहुत सोच कर ही इसका प्रयोग किया है। वृक्ष का रूपक कुदरती जीवन से प्रेरित है। भवन निर्माण मनुष्य के श्रम और कौशल के

करने का प्रयास यहां किया गया है, उनमें नेहरू की विरासत, धर्मनिरपेक्षता, फासीवाद/अधिनायकवाद का संकट, नव उदारवाद का उदय तथा इसके प्रसार से जनतंत्र के क्षय की संभावना, प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्र और क्रांतिकारी चेतना को पुष्ट करने में रचनाधर्मियों की भूमिका प्रमुख हैं।

आगे बढ़ने के पहले एक और बात को रेखांकित करना आवश्यक है। लगभग सभी लेखकों को इस बात का एहसास है कि इस घड़ी साम्यवाद विश्वभर में पस्त और परास्त दृष्टिगोचर हो रहा है। भारत में 2014 के संसदीय चुनावों में मोदी के नेतृत्व में भाजपा को स्पष्ट बहुमत मिलने के बाद देश के राजनैतिक परिदृश्य में नाटकीय बदलाव आया है और ‘हिंदुत्व’की प्रतिगामी ताकतों का ज्वार प्रगतिशील-वामपंथी तबके का मनोबल तोड़ने वाला ही सिद्ध हुआ है। मोदी के मुखर आलोचक यह आरोप लगाते रहे हैं कि पिछले दो वर्ष से जनतंत्र का हनन शनैः-शनैः हो रहा है, असहिष्णुता बढ़ रही है, असहमति का स्वर उठाने वाले प्रताड़ित किए जा रहे हैं

ईमानदारी के साथ इस सवाल से जूझने की कोशिश करते हैं।

अशोक मित्रा, इरफान हबीब के लेख इसका अपवाद कहे जा सकते हैं। दोनों ही दिग्गज ‘नब्बे की दहलीज’ पर पहुंच चुके हैं और असाधारण प्रतिभासंपन्न होने के बावजूद उस मरीचिका से मुक्त होने में असमर्थ हैं, जिसका पीछा करते उनका जीवन बीता है। मित्रा का छोटा सा लेख लाइलाज भावविह्वलता का उदाहरण है और ‘अतीत में ही बंदी’ उस बुजुर्ग को दयनीय ही बनाता है, जिसके निर्मम जुझारू लेख कभी इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली की जान होते थे। इरफान हबीब ने अपने एक पुराने भाषण को ही यहां चस्पा कर दिया है, जो सहमत के किसी जलसे में दिया गया था। यह सच है कि सार्वजनिक जलसों में हबीब का आकर्षण ‘रॉकस्टार’ सरीखा होता है, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि ‘नया’ कुछ कहने को उनके पास है, नहीं। राजेन्द्र प्रसाद के ‘संस्मरण’ भी कमजोर ही कहे जा सकते हैं; न तो वह प्रभात के व्यक्तित्व और कृतित्व पर रोशनी

बिना असंभव है। साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के अध्येता मार्क्स के समय से ही श्रम पर विशेष ध्यान देते रहे हैं। यह भी न भूलें कि भवन चाहे कितना ही भव्य क्यों न हो काल के प्रवाह के साथ या किसी आक्रामक प्रहार से ध्वस्त हो खंडहर में बदल सकता है। आंखों के सामने खड़ी जो बुलंद इमारत मजबूती का अहसास करा रही है, अंदर से खोखली हो सकती है या कमजोर बुनियाद के कारण ढह सकती है। जयंति को इस बात का पूरा श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने बिना किसी वैचारिक मोह के वर्तमान वैश्विक संरचना का चित्रण किया है। इस बात को झुठलाना किसी के लिए संभव नहीं कि फिलहाल पूंजीवादी ताकतें उफान पर हैं और साम्यवादी हर मोर्चे से पीछे हटते दिखलाई देते हैं। इस विचारधारा के समर्थक अपना मनोबल बढ़ाने के लिए यह सुझा सकते हैं कि पीछे हटना एक सुनियोजित रणनीति है, ताकि भविष्य में निर्णायक जंग लड़ी जा सके, पर जयंति यह नहीं कहतीं, वह कठिन चुनौती को कमतर नहीं आंकी।

प्रकाश करात और तीस्ता सीतलवाड के लेख भी इसी शृंखला की अगली कड़ियों के रूप में पढ़े जाने चाहिए। प्रकाश के लेख का शीर्षक है 'नियो लिबरलिज्म, औथेरिटेरियनिज्म एंड कंटेम्पोरेरी पॉलिटि' और तीस्ता के लेख का 'फॉसिस्ट्स इन पोजीशन ऑफ पावर: इन सर्च ऑफ रेसिस्टेंस'। प्रकाश के लेख की खासियत यह है कि वह प्रभात पटनायक की उस स्थापना से असहमत हैं, जिसमें प्रभात समकालीन भारत में लगभग अदृश्य, रंगते हुए फासीवाद के आगमन के लक्षण देख इसकी चेतावनी देते हैं। प्रकाश आज के भारत में अधिनायकवाद को तो प्रबल होता देखते हैं, पर इसे फासीवाद का नाम देना उचित नहीं समझते। हमारी समझ में यह बहुत महत्वपूर्ण है। द्वितीय विश्वयुद्ध के विस्फोट के पहले यूरोप में जिन परिस्थितियों में खास कर इटली में फासीवाद का उदय हुआ था, इनकी तुलना आज के भारत या किसी भी अन्य विकासशील देश से करना तर्कसंगत नहीं। नारों में प्रतिपक्षी को फासीवादी करार देना लुभावना लग सकता है, पर इससे सामाजिक यथार्थ के विश्लेषण में मदद

नहीं मिल सकती। ऐसा नहीं कि प्रकाश शोषक-उत्पीड़क तानाशाही के संकट से बेखबर हैं। वह इस बात को बखूबी जानते हैं कि किन परिस्थितियों में समाज के असंतोष-आक्रोश को जनतंत्र को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए उत्कट देशप्रेम या सांप्रदायिक उन्माद को भड़काना किसी तानाशाही मनोवृत्ति वाले 'करिश्माई' का विकल्प हो सकता है। पहचान की राजनीति को चुनावी राजनीति में प्राथमिकता देकर जनतांत्रिक प्रणाली के उपयोग से भी इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। पाठक के लिए यह सुखद आश्चर्य का विषय है कि प्रकाश करात भारत के अनुभव को जर्मनी में वाइमर गणतंत्र के आलोक में देखकर नतीजे निकालते हैं, पर सैद्धांतिक पक्षधरता के कारण शब्दजाल में फंसे नहीं।

करात के सुलझे विचारों की तुलना जोया हसन के निष्कर्षों से करने पर यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि पूर्वाग्रहों के कारण विद्वान-विशेषज्ञ भी किस तरह चूकते हैं। इस लेख का शीर्षक है 'डेमोक्रेसी ऑफ्टर मोदी : हिंदू नेशनलिज्म एंड दि न्यू पब्लिक डिस्कोर्स'। जोया हसन को हिंदू राष्ट्रवाद से भारतीय जनतंत्र संकटग्रस्त लगता है, यह बात तो समझी जा सकती है, पर इसे सीधे मोदी के सत्ता ग्रहण करने के साथ जोड़ना विचित्र ही कहा जा सकता है। भाजपा के केंद्र में 2014 में सरकार बनाने के पहले भी गुजरात, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान राज्यों में भाजपाई सरकारें दस-पंद्रह वर्ष से राज कर रही थीं। पंजाब में भाजपा की साझा सरकार अकाली दल के साथ बनी थी। केंद्र में भी एनडीए 1999-2004 कार्यरत थी। बिहार की सरकार भी दशक से अधिक के दौर में भाजपा के सहयोग से काम कर रही थी। अतः यह नहीं माना जा सकता कि अचानक मोदी के प्रकट होने से भारतीय जनतंत्र का चिंताजनक रूपांतर हो गया है। इस बात की ओर भी याद दिलाना जरूरी है कि पश्चिम बंगाल में तीन दशकों से चली 'जनतांत्रिक सरकार' की 'तुनकमिजाज तानाशाही और भ्रष्टाचार' के कारण ही ममता बैनर्जी माकपा को विस्थापित करने में कामयाब हुई थीं। यह लांछन वैसा ही है कि

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति!' उत्तर प्रदेश में धर्म निरपेक्षता के नाम पर सपा की सरकार जिस तरह अल्पसंख्यक तुष्टीकरण में जुटी थी, उसकी प्रतिक्रिया में बहुसंख्यक आबादी का धुवीकरण भाजपा के पक्ष में हुआ है, इसे नकारा नहीं जा सकता। सपा के लिए यह तुष्टीकरण ही सामाजिक न्याय का पर्याय बन गया। दलित तबके के उत्पीड़न में कोई कमी नहीं दर्ज कराई जा सकी और कानून का राज लगभग पार्टी के दबंग कार्यकर्ता-नेताओं की वजह से समाप्त हो गया था। इसी का खामियाजा 2017 के विधान सभा चुनावों में सपा को भुगतना पड़ा। यही हथ्र पंजाब में अकाली-भाजपा गठबंधन का हुआ। सार संक्षेप यह है कि भारतीय जनतंत्र को मोदी का व्यक्तित्व उतना संकटग्रस्त नहीं कर रहा, जितना भारतीय समाज में व्याप्त ऐतिहासिक प्रवृत्तियां। जोया का लेख सायास जुटाए 'प्रमाणों' के बावजूद विश्वसनीय नहीं लगता है और दलगत राजनैतिक पक्षधरता के कारण कमजोर कड़ी बना रह जाता है।

इधर जो विमर्श भारतीय जनतंत्र को लेकर जारी है, उसमें सांप्रदायिक भाजपा बनाम धर्मनिरपेक्ष विपक्ष (कांग्रेस तथा साम्यवादी एवं समाजवादी दल) ही केंद्र में रहे हैं। अधिकांश दक्षिण भारत या पूर्वी राज्य उपेक्षित रहे हैं। क्या मोदी के आविर्भाव से तमिलनाडु में 'जनतंत्र' में निर्णायक मोड़ आ गया है या ओडिसा अथवा पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा और केरल की राजनीति आमूल चूल बदल गई है? कश्मीर में चालीस कमल खिलाने का सपना साकार करने में भाजपा नाकामयाब रही है और सिर्फ भाजपा की पराजय के कारण यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि इन राज्यों में जनतांत्रिक शक्तियां मजबूत हुई हैं।

अकील बिलग्रामी का लेख 'इज देयर एन इंडियन सेकुलरिज्म?' जोया की तुलना में कहीं अधिक तटस्थ और जमीनी हकीकत के निकट है। बिलग्रामी की एक विचारोत्तेजक टिप्पणी यह है कि नेहरू जो भारतीय सेकुलरिज्म के पिता समझे जाते हैं खुद उस पश्चिमी नमूने की धर्मनिरपेक्षता के हिमायती नहीं, जैसा आज के सेकुलर हठधर्मी मानते हैं। भले ही वह गांधी की तरह खुद को हिंदू घोषित नहीं करते थे और राज्य को किसी

भी धर्म/संप्रदाय के साथ नहीं जोड़ना चाहते थे। आस्था और उपासना को वह व्यक्तिगत जीवन का अंग मानते थे, सार्वजनिक नहीं। इसी तरह के विचार प्रखर राजनैतिक दार्शनिक राजीव भागवत ने हाल के अपने एक लेख में प्रकट किए हैं, जिसका प्रकाशन इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली में हुआ है।

बिलग्रामी ने बहुत विस्तार से यह बात उजागर की है कि किन परिस्थितियों में विभाजन के खून खराबे के बाद संविधान निर्मात्री सभा ने धर्मनिरपेक्षता पर विचार किया था। यह जोड़ने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि तब से अब तक भारतीय गणतंत्र का अनुभव इस नेहरूयुगीन अवधारणा को लगभग पौराणिक बना चुका है। यह भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि 'हिंदुत्व' को 'गांधी के हत्यारों' का जीवन दर्शन करार देने वाले आलोचक यह आसानी से भूल जाते हैं कि स्वयं राजीव गांधी पर कोमल हिंदुत्व को प्रोत्साहित करने के आरोप लगते रहे हैं, जो निराधार नहीं कहे जा सकते। शाहबानो प्रकरण में सर्वोच्च न्यायालय के आदेश को खारिज करने वाला प्रतिगामी संवैधानिक संशोधन और रामलला के जन्मस्थान पर लगे ताले खुलवाने का आदेश उन्हीं के कार्यकाल का इतिहास है। कांग्रेस के लंबे प्रभुत्व काल में सांप्रदायिक दंगों की काफी पड़ताल हो चुकी है। परंतु जनतंत्र के भविष्य की आशंका से उत्तेजित विश्लेषकों का आपातकाल को भुलाना या 1984 के सिख विरोधी वंशनाशक दंगों में कांग्रेस की जिम्मेदारी से कन्नी काटना दोहरे मानदंडों का ही नाजायज उपयोग लगता है। यहां शायद यह भी रेखांकित करने की जरूरत है कि इंदिरा गांधी के समय से ही शिक्षा और शोध संस्थानों में वामपंथी विचारधारा का प्रभुत्व रहा है। खुद प्रभात पटनायक उसी स्वर्णिम प्रभात वेला में कैंब्रिज को तज जेएनयू में पहुंचे थे, जब सैयद नूरुल हसन शिक्षा मंत्री थे जो स्वयं भारतीय कॉम्युनिस्ट पार्टी के समर्थक थे। अनेक साम्यवादी इंदिरा गांधी के सलाहकार थे और उनकी अल्पमत वाली सरकार भारतीय कॉम्युनिस्ट पार्टी के समर्थन पर टिकी थी। माकपा उनकी आलोचक विरोधी थी, पर पश्चिम बंगाल में नक्सलियों से लड़ते वक्त कांग्रेस के साथ हाथ मिलाने

में उसे आपत्ति नहीं थी। असली परेशानी यह है कि इस बार भाजपा के सत्ता ग्रहण करने से लंबे समय से असरदार इस प्रगतिशील बौद्धिक तबके का एकाधिकार संकटग्रस्त हो गया है। सारी बौखलाहट इसी को लेकर है।

यह सुझाना नाजायज नहीं कि विश्वविद्यालयों के परिसरों में पीठासीन प्राचार्य अपनी न्यस्त विचारधारा की रक्षा को ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और जनतंत्र की एकमात्र कसौटी समझने लगे हैं।

दिलचस्प बात यह है कि प्रकाश करात की तुलना में अधिक उदार और व्यवहारिक समझे जाने वाले सीताराम येचुरी का लेख सैद्धांतिक अमूर्तों से बोझिल है। लेख का शीर्षक (प्रसिद्ध इतालवी फासीवाद विरोधी साम्यवादी विचारक ग्रामसी की ऑर्गेनिक इंटरलैक्चुरल की स्थापना से प्रेरित) है: 'दि ऑर्गेनिक इंटरलैक्चुरल एंड आइडिया ऑफ इंडिया।' यहां विस्तार से भारत की अवधारणा अर्थात् आइडिया ऑफ इंडिया की विस्तार से पड़ताल का अवकाश नहीं, पर इतना याद दिलाना जरूरी है कि नेहरूवादी सुनील खिलनानी की पुस्तक का शीर्षक भी यही है और कांग्रेसियों के अलावा सभी तरक्की पसंद बुद्धिजीवियों का मानना है कि यह अवधारणा धर्मनिरपेक्ष समाजवादी बहुलवादी संस्कृति के उत्तराधिकारी भारत की है। इस अवधारणा को त्याग कर हम जनतांत्रिक नहीं रह सकते। नेहरू के देहांत को आधा सदी से अधिक समय बीत चुका है। समाजवाद को नीति नियोजन कई दशक पहले तिलांजलि दे चुका है। बहुलवादी संस्कृति के समन्वयात्मक चरित्र और भारती जनमानस की सहिष्णुता को आजादी से आज तक के अनुभव के आधार पर नैसर्गिक समझना नादानी ही कहा जा सकता है। बहुसंख्यक आबादी के आहत होने का एक बड़ा कारण अल्पसंख्यक तुष्टीकरण को धर्म निरपेक्षता का पर्याय समझना है। यह चिंतक समुदाय यह स्वीकार करने में असमर्थ है कि भारत की आबादी का बहुसंख्यक हिस्सा भारत की जिस अवधारणा के अनुसार आचरण करता है, वह नेहरू के वारिसों तथा अंधभक्तों की भारत की कल्पना से बहुत भिन्न है। बारंबार जनतांत्रिक चुनावों में करारी हार के बाद भी

प्रगतिशील तत्व यह कबूल नहीं कर पा रहे हैं कि धर्म और धर्म पर आधारित सांस्कृतिक मूल्यों को नकारने वाली धर्मनिरपेक्षता राजनीति में सफल नहीं हो सकती। वैज्ञानिक सोच हो या पश्चिमी नमूने का जनतंत्र इसे ऊपर से थोपने का प्रयास ही विभिन्न संवैधानिक संकटों का जन्मदाता रहा है।

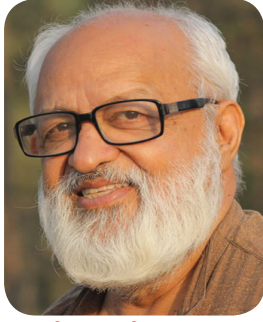
तीस्ता सीतलवाड मोदी, भाजपा और संघ परिवार की कटु आलोचक रही हैं। उनका मानना है कि गोधरा के बाद भड़के सांप्रदायिक दंगों के पीड़ितों के प्रति सहानुभूति के कारण ही उन्हें वर्तमान सरकार प्रताड़ित करती रही है। यह प्रशंसनीय है कि अपने लेख में उन्होंने फाँसीवाद के भारत में बीजारोपण तथा इसकी जड़ें मजबूत करने के लिए मात्र मोदी और भाजपा या संघ परिवार को ही दोष नहीं दिया है। 1970-90 के दशक में महाराष्ट्र-खास कर मुंबई महानगर में शिवसेना के उभार और उसके साथ खुद को धर्मनिरपेक्ष और जनतांत्रिक कहने वाले राजनैतिक दलों की मौकापरस्त साझेदारी का विस्तार से वर्णन किया है। श्रमिक संगठनों का पतन, संगठिक अपराध का राजनीति में प्रवेश सिर्फ डेढ़-दो साल पहले भारत में आरंभ नहीं हुआ है।

इस पुस्तक में संकलित कुछ अन्य लेख भी प्रतियोगी परीक्षा के प्रत्याशियों के लिए उपयोगी हैं: संपादक विद्वानों में एक चंद्रशेखर ने नेहरू, नियोजन और समाजवादी विकास-संरचना का समीक्षात्मक विवेचन किया है तो प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमिय बाहची ने वैज्ञानिक सोच को अपने लेख का विषय बनाया है।

अनिल भट्टी तथा मिहिर भट्टाचार्य के लेख अमूर्त और दुरूह हैं। इन्हें शायद इसीलिए शामिल किया गया है कि इनके लेखक पार्टी के सहयात्री हैं और सृजनात्मक प्रतिभा का समर्थन जुटाने में सहायक समझे जाते हैं।

बिस्वजीत धर ने मैगा ट्रेडिंग ब्लॉक को अपने फोकस में रखा है तो प्रवीन झा, सैम मोयो और पेरिस योरोस के लेख का विषय है 'कैपिटल एंड लेबर रिजर्व'। जाहिर है यह विशेषज्ञों को ही संबोधित करता है।

कुल मिलाकर पुस्तक रोचक, पठनीय और उपयोगी है। ■



प्रो. पुष्पेश पंत

प्रस्तुत पुस्तक दो-तीन कारणों से उल्लेखनीय और पठनीय है। इसमें बहुत ऐसी जानकारियां हैं जो अकसर ध्यान में नहीं रहतीं और जिनका मिला जुला असर महाशक्तियों के आचरण को निर्णायक रूप से प्रभावित करता है; इसमें बहुत कुछ सर्वविदित किस्म की ऐतिहासिक जानकारियों को दोहराया नहीं गया है (संदर्भ के लिए भी नहीं), पर जिनकी अनुगूँज अनसुनी करना कठिन है। इस पुस्तक के पन्ने पलटते इनका स्मरण अनायास हो आता है। लेखक ने कहीं भी तटस्थता का पाखंड नहीं पाला है। यह रचना अमेरिकी राष्ट्रीय हित-स्वार्थ को सर्वोपरि मान कर 'यथार्थ' का सर्वेक्षण विश्लेषण करती है और इस बात को उजागर करती है कि भले ही आंतरिक नीतियों में रिपब्लिकन तथा डिमोक्रेट दलों में मतभेद हो विदेश नीति के क्षेत्र में बुनियादी तौर पर एक सहमति निरंतर चली आ रही है। अंत में, राष्ट्र के जीवन में व्यक्ति की भूमिका का अध्ययन करने वाले जिज्ञासुओं के लिए भी यह सामग्री विचारोत्तेजक है। संयोगवश इस पुस्तक का प्रकाशन उस समय हुआ है, जब संयुक्त राज्य अमेरिका में डोनाल्ड ट्रंप ने राष्ट्रपति का पदभार ग्रहण किया है और अपने अब तक के आचरण से यह आशंका पैदा कर दी है कि वह अमेरिकी राजनीति में प्रतिष्ठित 'चेक्स और बैलेंसेज' वाली व्यवस्था को असंतुलित करने वाले तानाशाह नेता के रूप में अपनी पहचान बनाने पर आमादा हैं। अमेरिका को 'फिर से' ताकतवर बना विश्व भर में उसका एकाधिपत्य जमाने

पुतिन्स मास्टर प्लान: टु डिस्ट्रॉय यूरोप

डिवाइड नाटो एंड रिस्टोर रशियन पावर एंड ग्लोबल इनफ्लुएंस

लेखक : डगलस ई शोहेन (ईवान रोथ स्मिथ के साथ)

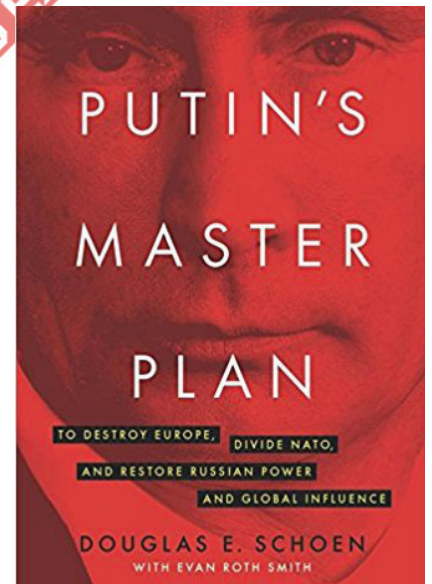
की महत्वाकांक्षा को वह अपने चुनाव अभियान के दौरान मुखर कर चुके हैं। कई विद्वान विश्लेषकों का मानना है कि यह मानसिकता अदूरदर्शी नादानी का लक्षण है और इसके आधार पर संचालित राजनय प्रतिद्वंद्वी से घातक मुठभेड़ का जोखिम ही पैदा कर सकता है। आरंभ में ही इस विषय को रेखांकित करना जरूरी है। यदि लेखकों की इस स्थापना को (बहस के लिए ही सही) स्वीकार कर लें कि पुतिन की षडयंत्रकारी रणनीति मास्टरप्लान-यूरोपीय एकता अस्मिता को नष्ट कर रूस का वर्चस्व विश्वव्यापी बनाना है, तब यह सुझाव तर्कसंगत है कि क्या इसी तरह की कोई परियोजना या रणनीति मास्टर प्लान ट्रंप का नहीं?

इस बात से कोई भी इंकार नहीं कर सकता कि व्लादिमीर पुतिन पिछली लगभग दो दशक से रूस के जीवन में सबसे महत्वपूर्ण नेता रहे हैं। ऐसा व्यक्ति जिसने रूस का अप्रत्याशित रूपांतर कर डाला है, पहले आठ वर्ष राष्ट्रपति फिर चार वर्ष प्रधानमंत्री और पुनः चार वर्ष राष्ट्रपति के रूप में व्यतीत कर वह राष्ट्रपति के रूप में पुनर्निर्वाचित होने को तत्पर है। उनको चुनौती देने की स्थिति में न तो कोई व्यक्ति है, न ही राजनैतिक दल। सभी आलोचकों का वह निर्मम दमन-उन्मूलन कर चुके हैं और कभी सर्व शक्तिमान समझे जाने वाले- तख्त के पीछे की ताकत- खरबपति रूसी डकैत पूंजीपति 'ओल्लिगार्क' खस्ताहाल-पस्त हैं। मीडिया पुतिन की आलोचना करने को स्वतंत्र है, पर अब तक का अनुभव यही दर्शाता है कि जो भी पत्रकार यह दुस्साहस करता है, वह अपने प्राणों को दांव पर लगाता है।

पुतिन अभी अपेक्षाकृत युवा हैं, पूरी तरह स्वस्थ और अपार संपत्ति के स्वामी। सोवियत गुप्तचर सेवा में काम का अनुभव और असहमत

असंतुष्ट विपक्षियों को खुफिया तरीके से बिना कोई सुराग छोड़े ठिकाने लगाना उनकी विशेषज्ञता समझी जाती है। विदेश में शरण लेने वाला आलोचक या बागी भी अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकता। लितिवेंको नामक गुप्तचर की लंदन में रेडियोधर्मी विकिरण के जरिए परमाणविक विष द्वारा हत्या का रहस्य पूरी तरह सुलझा नहीं, पर अपने देहामथ के पहले लितिवेंको ने इसके लिए पुतिन को ही जिम्मेदार ठहराया था।

जिन-जिन औल्लिगार्कों ने पुतिन को चुनौती देने की चेष्टा की थी, उन सब को नेस्तनाबूद करते 'प्रशासन' ने देर नहीं लगाई है। कोई विदेश में शरण लेने को बाध्य हुआ तो किसी और को जेल भेज दिया गया। इन सभी कारणों से पुतिन पर मानवाधिकारों के हनन का आरोप लगाया जाता रहा है, पर इस सच को नजरंदाज करना कठिन है कि पुतिन के शासन काल में अराजकता पर काबू पाया जा सका है और



जिस आर्थिक मंदी और मुद्रा स्फीति ने रूस को टूट और बिखराव की कगार तक पहुंचा दिया था, उस पर लगाम लगाई जा सकी है। पुतिन की लोकप्रियता किसी भी अन्य साम्यवादी या सैनिक अथवा जनतांत्रिक 'नेता' की तुलना में कहीं अधिक है। यह स्वीकार करने पर भी कि रूस के चुनाव निर्भय और निष्पक्ष नहीं समझे जा सकते, यह सुझाना संगत नहीं कि पुतिन को रूसियों का व्यापक जन समर्थन प्राप्त नहीं।

जिस समय पुतिन पहली बार रूस के राष्ट्रपति बने थे, यह आशा की जा रही थी कि सोवियत संघ के विघटन तथा विलय के बाद इस भूभाग में हिंसक अराजकता का और आर्थिक मंदी का जो भयानक दौर सामने आया था, जिसके विखंडनकारी परिणाम सामने आ रहे थे उन्हें देखते यही लगने लगा था कि शीत युद्ध में साम्यवाद की निर्णायक हार के बाद रूस का कार्याकल्प एक जनतांत्रिक कमोबेश पूंजीवादी देश के रूप में होगा और युवा करिश्माई नेता पुतिन इस बदलाव के अग्रदूत होंगे। यह आशा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है, परंतु पुतिन का व्यक्तित्व और नेतृत्व ही रूस के भविष्य के संदर्भ में निर्णायक समझा जाना चाहिए।

पुतिन की सबसे बड़ी कामयाबी यह रही है कि उन्होंने अपनी असादिग्ध पहचान उत्कट देशप्रेमी और रूस के राष्ट्रीय हितों के समर्थ रक्षक वाली बनाई है। यह संभावना प्रबल है कि आने वाले दशक में भी पुतिन सत्ता में रहेंगे और उनकी छाप रूस की राजनीति और अर्थव्यवस्था पर रहेगी। अतः उनके 'मास्टर प्लान' की पड़ताल टाली नहीं जा सकती।

एक संक्षिप्त पर सारगर्भित भूमिका के बाद पुस्तक की सामग्री 9 अध्यायों में विभाजित है। इनमें पहले दो अध्याय प्रतियोगी परीक्षा के प्रत्याशियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं।

पहले का शीर्षक है 'दि ट्रांसएंटलाटिक रिलेशनशिप इन ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी' और दूसरे को नाम दिया गया है 'दि रशन सेंचुरी'। कुल जमा 30 पन्नों में वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सुलभ कराई गई है, जिसके अभाव में समसामयिक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के

घटनाक्रम को समझना और उसका विश्लेषण करना असंभव सा लगता है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोप के संबंध सहोदरों जैसे हैं और बीसवीं सदी में दूसरे महायुद्ध के बाद के संधि संगठनों और आर्थिक विकास की मार्शल प्लान जैसी परियोजनाओं ने इस रिश्ते को और भी घनिष्ठ और सामरिक दृष्टि से संवेदनशील बना दिया। शीत युद्ध के युग में 'अटलांटिक बिरादरी' लाल दानव (साम्यवादी खतरे) को रोक पीछे धकेलने के लिए बेहद महत्वपूर्ण समझी गई। अमेरिका के उदार सहयोग और सहायता से ही ध्वस्त ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी का पुनर्निर्माण संभव हो सका।

यहां यूरोपीय समुदाय के जन्म और विकास पर विस्तृत टिप्पणी संभव नहीं, पर यह रेखांकित करना परमावश्यक है कि अटलांटिक बिरादरी का ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आयाम युद्धोत्तर राजनीति से कहीं व्यापक है। अमेरिका और यूरोप के ईसाई धर्म के अनुयायी हैं और कमोबेश गोरे कॉकेशियाई नस्ल के। यह सभी यूनानी-रोमन सभ्यता के वारिस हैं जिसे यहूदी स्पर्श भी मिला है। इसका संघर्ष हजार साल से भी अधिक समय से इस्लाम से जारी रहा है। एशिया तथा अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के महाद्वीपों में औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का अनुभव भी इस बिरादरी को अन्य जनों से अलग करने वाला सिद्ध हुआ। भले ही अमेरिका, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया कभी ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल, इटली, स्पेन की तरह औपनिवेशिक ताकत नहीं रहे स्थानीय आदिवासियों के वंशनाशक नरसंहार के अभियोग से इन्हें भी मुक्त नहीं समझा जा सकता।

हाल में ब्रिटेन द्वारा यूरोपियन समुदाय की सदस्यता त्यागने के बाद एक नई बहस शुरू हुई है। क्या अब ब्रिटेन अमेरिका की तरफ बदली नजर से देखना शुरू करेगा और क्या इस कारण अटलांटिक रिश्तेदारी का नया अध्याय आरंभ होने जा रहा है?

हाल के दशकों में अमेरिका की सोच रही है कि यूरोप ने अटलांटिक रिश्तेदारी का अवमूल्यन किया है। वास्तव में 1960 के दशक के मध्य से ही यूरोप की बड़ी ताकतों में यह भावना घर करती रही है कि

अमेरिका अपने सामरिक शतरंज की बिसात में उनका उपयोग मोहरों की तरह करता है और खास कर तनाव शैथिल्य के बाद उनके राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा होती रही है। अमेरिका के सांस्कृतिक आधिपत्य और व्यापार में नव साम्राज्यवादी तेवरों की वजह से भी असंतोष फैला। फ्रांस और जर्मनी ने रूस (तब सोवियत संघ) और जनवादी चीन के साथ अपने उभयपक्षी संबंध सुधारने का प्रयास आरंभ कर दिया। अमेरिका के विपत्तनाम में सैनिक हस्तक्षेप और मध्यपूर्व में इजरायल की पक्षधरता से भी यह मनमुटाव बढ़ा।

हालांकि, अमेरिका पर 9/11 वाले आतंकवादी हमले के बाद सभी पश्चिमी (गोरे- ईसाई) देश कट्टरपंथी इस्लामी खतरे के विरुद्ध एकजुट हुए। यह मोर्चाबंदी ज्यादा समय टिकी नहीं। 21 वीं सदी के पहले दशक में ईराक, अफगानिस्तान और सीरिया में मानवाधिकारों और जनतंत्र के बहाने सत्ता परिवर्तन के लिए हस्तक्षेप का समर्थन भी यूरोपीय समुदाय के सदस्यों ने पूरे मन से नहीं किया।

बीसवीं सदी के इतिहास की एक बड़ी घटना रूस में बोलशेविक क्रांति की सफलता थी। इसने पहली बार एक नए किस्म के राज्य को जन्म दिया जो विचारधारा के आधार पर अन्य (पूंजीवादी) राज्यों के लिए चुनौती बन गया। दूसरे विश्व युद्ध में नाजियों और फांसीवादी राज्यों के खिलाफ मोर्चाबंदी में सोवियत संघ ने भले ही मित्र राष्ट्रों वाले संयुक्त मोर्चे में शामिल होना स्वीकार किया। युद्ध विराम के साथ ही शीत युद्ध का सूत्रपात हुआ और पूंजीवादी पश्चिमी देशों तथा साम्यवादी पूर्वी यूरोप तथा सोवियत संघ के बीच आर-पार की लड़ाई छिड़ गई। परमाणविक सर्वनाश की दहशत ने 'आतंक के संतुलन' को जन्म दिया और विश्व को 'तनाव शैथिल्य' वाले अंतराल ने राहत पहुंचाई। 1970 वाले दशक के अंत तक यह साफ हो चुका था कि आर्थिक विकास का साम्यवादी विकल्प पूंजीवादी चुनौती का सामना करने में सफल नहीं हो सका है और विकास के अभाव में सोवियत संघ में अभावजनित असंतोष उथल-पुथल पैदा कर रहा है। जिस तरह स्तालिनवादी

अत्याचार का रहस्योद्घाटन बीसवीं पार्टी कांग्रेस में ख्रस्चौव ने किया था, वैसे ही अंदाज में मिखाइल गोर्बाचौव ने 'पेरैस्त्रौइका' पर 'ग्लासनौस्त' की चर्चा आरंभ की। व्यवस्था में 'संरचनात्मक सुधार' और व्याप्त बुराइयों के बारे में 'साफगोई' का आह्वान करते ही जो ज्वार उठा वह गोर्बाचौव को अपने साथ बहा ले गया। इसके साथ ही अराजकता, व्यापक राजनैतिक भ्रष्टाचार और असमाजिक आपराधिक गतिविधियों का वह दौर आरंभ हुआ, जिसका अंत पुतिन के सत्ता ग्रहण करने के साथ ही हो सका। पुस्तक के दूसरे अध्याय का पारायण करते समय यह याद रखने लायक है कि पुतिन यदि 21 वीं सदी को रूस की सदी बनाना चाह रहे हैं तो वह कोई क्रांतिकारी बदलाव नहीं, वरन बीसवीं सदी के तीसरे चरण तक बरकरार यथास्थिति को लौटाने के लिए ही प्रयत्नशील हैं। गोर्बाचौव के बाद सोवियत संघ का विखंडन एक सुनियोजित रणनीति के अनुसार ही संपन्न हुआ था। पूर्वी यूरोप के उपग्रहों से रूस को अलग करने के लिए नाटो और यूरोपीय समुदाय की सदस्यता का लालच दिखलाया गया। जनतंत्र के बीजारोपण और मानवीय अधिकारों की रक्षा के नाम पर यूक्रेन, जॉर्जिया आदि में असंतुष्ट तत्वों को प्रोत्साहित किया गया। कजाकिस्तान, उजबेकिस्तान, अजरबाइजान में क्षेत्रीय उपराष्ट्रवाद तथा सांप्रदायिक अलगाववाद को स्थानीय पहचान एवं जनहित का पर्याय मान लिया गया। पुतिन यदि 21 वीं सदी में इस क्षति की पूर्ति करने में जुटे हैं तो उनके मास्टर प्लान को दुष्ट साजिश करार देना गलत है। बीसवीं सदी के अधिकांश वर्षों में अमेरिका और सोवियत संघ दोनों महाशक्तियों को समकक्ष समझा जाता था। इसी कारण आतंक का संतुलन कामयाब रह सका था। आज भले ही अपनी-अपनी विचारधारा के विश्व व्यापी प्रसार का द्वंद्व नहीं, परंतु यह बात स्वयंसिद्ध नहीं समझी जा सकती कि रूस अमेरिका के मुकाबले दूसरे दर्जे की शक्ति बन चुका है। न तो पुतिन यह मानने को तैयार हैं, न ही रूसी।

हमारी समझ में इस पुस्तक का सबसे रोचक और महत्वपूर्ण हिस्सा सातवां अध्याय

है, जिसका शीर्षक है- 'ब्लैक गोल्ड बुली' अनुवाद करना चाहें तो काले सोने के मालिक की धौंस धमकी कर सकते हैं। अर्थात् यदि पुतिन यूरोप का भयादोहन करने में कामयाब होते रहे हैं तो इसका आधार रूस को सुलभ तेल और गैस का विशाल भंडार ही है। हम अकसर इस बात को भूल जाते हैं कि रूस सऊदी अरब के बाद दुनिया में तेल के सबसे विशाल भंडार का स्वामी है। यह ऊर्जा भंडार साइबेरिया में स्थित है, अर्थात् इसका सबसे बड़ा ग्राहक चीन इसके सबसे निकट है। मध्यपूर्व या कहीं भी और से तेल-गैस के आयात की बनिस्बत रूसी फॉसिल जनित ईंधन चीन के लिए सर्वश्रेष्ठ विकल्प है। यही बात जापान के बारे में भी कही जा सकती है। मध्यपूर्व की अस्थिरता को देखते हुए यह स्रोत और भी आकर्षक बन जाता है। यह उल्लेखनीय है कि कुछ वर्ष पहले भारत ने साखालिन प्रायद्वीप में तीन अरब डॉलर का निवेश तेल की खोज और उसके परिष्कार के लिए किया था, पर जो बात सामरिक संवेदनशीलता से जुड़ी है, वह यह कि पूर्वी ही नहीं पश्चिमी यूरोप की ऊर्जा सुरक्षा भी रूसी तेल-गैस के आयात पर निर्भर है। यदि ट्रूप के अमेरिका और पुतिन के रूस के बीच तनाव बढ़ता है तो फ्रांस या जर्मनी, इटली और पुर्तगाल कोई भी निरापद निश्चित नहीं रहेगा। यूक्रेन का भयादोहन निरंतर इस धमकी से किया जाता रहा है कि अगर उसने नाटो या यूरोपीय समुदाय के साथ घनिष्टता बढ़ाने की आकुलता दिखाई तो उसे रियायती दर पर सुलभ रूसी गैस से हाथ धोना पड़ेगा। क्रीमिया में पुतिन के हस्तक्षेप का स्पष्ट विरोध करने में अनेक मानवाधिकार समर्थक यूरोपीय देशों की असमर्थता इसी निर्भरता के कारण है।

सीरिया में रूस का हस्तक्षेप तेल की राजनीति का एक दूसरा आयाम उजागर करता है। अमेरिका की ही तरह रूस भी अपनी ऊर्जा जरूरतों की पूर्ति के लिए मध्यपूर्व पर निर्भर नहीं, पर अमेरिका की ही तरह रूस की प्राथमिकता भी इस तेल भंडार पर कब्जा कर विपक्षियों को इस संसाधन से वंचित रखने की है। युद्ध ग्रस्त ईराक और सीरिया में अपनी मौजूदगी से पुतिन ने यह

संदेश प्रसारित किया है कि अमेरिका को उसकी घेराबंदी का प्रयास कितना मंहगा पड़ सकता है। आर्कटिक प्रदेश में रूस का नौसैनिक पदार्पण भी अमेरिका को आशंकित करने वाला सिद्ध हुआ है। वैज्ञानिकों का मानना है कि बर्फ से ढंके सागर के गर्भ में विश्व का सबसे बड़ा तेल गैस भंडार है। इसके स्वामित्व को लेकर भविष्य में उग्र विवाद जन्म ले सकते हैं। तटवर्ती राज्यों की दावेदारी अंतर्राष्ट्रीय कानून के जिस सिद्धांत पर आधारित है, उसको व्यवहार में लागू करना असंभव है। इक्सक्लूसिव इकोनॉमिक जोन हो या कौंटिनेंटल शैल्फ पर संप्रभुता-उत्तरी यूरोप (स्कैन्डिनेवियाई भूभाग) के देशों के बीच सहकार से अधिक टकराव की संभावना है। यह भी साफ है कि रूस के दावों से टकराव की स्थिति में कोई भी उसकी चुनौती का मुकाबला नहीं कर सकता। रूस के परमाणु शक्ति चालित बर्फ तोड़ने वाले जहाज, एटमी आयुधों से लैस पनडुब्बियों की संख्या इस इलाके में तैनात अमेरिकी पोतों से कहीं अधिक है।

पुस्तक में सुलभ कुछ आंकड़े बेहद दिलचस्प और विचारोत्तेजक हैं। पुतिन का रूस दुनिया में गैस के सबसे बड़े और तेल के दूसरे सबसे बड़े भंडार का स्वामी तो है, साथ ही कोयले का भी दूसरा सबसे बड़ा भंडार वहीं स्थित है। यूरोप अपनी कुल ऊर्जा जरूरत में एक तिहाई का आयात रूस से करता है। 2010-14 के बीच रूस ने यूरोप को निर्यात की जाने वाली गैस को 48% से 64% तक पहुंचा दिया है।

अमेरिका को हर मोर्चे पर चुनौती देने की रणनीति अपना कर पुतिन रूस का गंवाया हुआ आत्म सम्मान लौटाने पर आमादा हैं तो सिर्फ भावनात्मक कारणों से नहीं। इसके अभाव में वह अपनी संप्रभुता को भी देर तक अक्षुण्ण नहीं रख सकते। जिन साधनों-शस्त्रों या उपकरणों का उपयोग वह कर रहे हैं, इनका सर्वेक्षण लेखकों ने उन अध्यायों में किया है, जिनके शीर्षक 'न्यू वारफेयर', 'सोइंग डिसऑर्डर' 'शैडोबॉक्सिंग दि क्रैमलिन' हैं। गुप्तचरों, दुष्प्रचार तथा साइबर युद्ध संचालन का जिक्र करने के साथ लेखकों ने पाठक का ध्यान इस ओर भी दिलवाया है कि कैसे मनोबल के हास ने

नाटो के सदस्य देशों को पस्त किया है और वह अमेरिकी सहायता समर्थन के बावजूद कृतज्ञ नहीं कृतघ्न ही रहे हैं।

यहां यह याद दिलाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि कैसे अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव में हिलेरी क्लिंटन को हराने और डोनाल्ड ट्रंप को जिताने के लिए अमेरिकी मीडिया में हिलेरी क्लिंटन की निजी ई-मेल से जुड़े खुलासे रूसी गुप्तचर संस्थाओं से प्राप्त जानकारी के आधार पर चर्चित रहे। इसके पहले भी पैट्रोगन या स्टेट डिपार्टमेंट की वेबसाइट की रूसी और चीनी गुप्तचर सेवाओं द्वारा हैकिंग के समाचार मिलते रहे हैं। पुतिन को इस बात की सुविधा है कि वह तमाम आरोपों को झुठला दें, परंतु यह बात नजरंदाज नहीं की जा सकती कि स्नोडन जैसे व्हिसिल ब्लोवर विभीषण को उन्होंने रूस में शरण दी है और ट्रंप के राष्ट्रीय रक्षा सलाहकार को पद ग्रहण करने के कुछ ही दिन बाद इस्तीफा देने को मजबूर होना पड़ा, क्योंकि चुनाव अभियान के दौरान रूसी राजदूत को जो आश्वासन उन्होंने दिए थे, वह पक्षधर 'सौदेबाजी' ही लगते हैं—अमेरिकी राष्ट्रहित की उपेक्षा करते हुए। कुछ विश्लेषकों का यह मानना है कि पुतिन ने जानबूझ कर ट्रंप प्रशासन को कमजोर करने के लिए इस मायावी साइबर युद्ध का सहारा लिया है।

आठवें अध्याय में विस्तार से उस राजनयिक रणनीति का विश्लेषण किया गया है, जिसका उपयोग पुतिन यूरोप को छलने, ललचाने, बहकाने, डराने के लिए करते रहे हैं। वह उन विपक्षियों को दंडित करते दर नहीं लगाते और अपने 'मित्रों' उपग्रहों को पुरस्कृत भी उदारता से करते हैं। बेलारूस, इस्टोनिया, मोल्दोवा इसी का उदाहरण हैं। नाटो और यूरोपीय समुदाय को कमजोर करने के लिए कैसे पुतिन अपने मोहरों का इस्तेमाल करते हैं, इसका उल्लेख भी इस किताब में है। ग्रीस ही नहीं हंगरी और पोलैंड को भी पुतिन के इशारों पर ही काम करने वाला विश्वासपात्र के अयोग्य घोषित किया गया है। विडंबना यह है कि भले ही यह देश वास्तव में पश्चिमी खेमे में घुसने को आतुर हों इनको शक के दायरे में डाल देने भर से पुतिन का मकसद पूरा हो जाता है।

जहां तक नाटो के गिरते मनोबल तथा इस संगठन के सदस्यों में अमेरिका के नेतृत्व को आंखमूंद कर स्वीकार न करने की बात है, यह दर्ज किया जाना आवश्यक है कि शीत युद्ध के युग में अमेरिका ने इन देशों की सहायता परोपकार की भावना से नहीं, वरन सामरिक स्वार्थ साधन के लिए ही की थी। रूसी सेना से किसी संभावित मुठभेड़ की आशंका से इन्हें अगले मोर्चे पर तैनात संधि मित्र समझा गया। रही बात आर्थिक सहायता की तो इसका भरपूर लाभ अमेरिक के उन उद्योगों ने उठाया जो फ्रांस-जर्मनी और ब्रिटेन के पुनर्निर्माण में भाग ले रहे थे। तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति आइसनहॉवर ने जिस सैनिक-औद्योगिक प्रतिष्ठान की बहस शुरू की उसका दैत्याकार विकास इस अभियान के साथ जुड़ा रहा। अब तक यह बात पूरा यूरोप भली भांति जान चुका है कि अमेरिका जब कभी अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के बहुमत को अनदेखा कर अपने आधिपत्य की स्थापना या रक्षा के लिए इकतरफा मनमानी वाला हस्तक्षेप करना चाहता है तो इसे बहुराष्ट्रीय जामा पहनाने के लिए यूरोपीय सहयोगियों को जुटा संयुक्त राष्ट्र को हाशिए पर पहुंचाने का प्रयास करता है। अफगानिस्तान, ईराक, लीबिया व सीरिया का अनुभव इस मोहभंग का असली कारण है। पहली कतार में खड़े सीमित साधनों वाले यूरोप के देश उन शरणार्थियों की बाढ़ से भी व्यथित हैं, जिन्हें अमेरिकी हस्तक्षेप ने बेघर दर बदर किया है। भले ही इनमें अधिकांश अंततः अमेरिका जाना चाहते हैं, इनके कारण कम आबादी वाले अमेरिका से छोटे आकार वाले राज्यों को अपनी पहचान खतरों में जान पड़ती है। यूरोपीय समुदाय के साथ ब्रुसेल्स में नाटो का मुख्यालय स्थापित कर अमेरिका ने इन दोनों को जुड़वां सहोदर बनाने की जो चेष्टा की, उससे सभी सदस्य सहमत नहीं। नाटो शीतयुद्ध के तनाव बढ़ाने का कारण रहा है और यूरोप का 'एकीकरण' तनाव शैथिल्य को प्रोत्साहित करने का। यूरोपवासियों को इस बात का भी क्लेश कम नहीं सालता कि अमेरिका अपनी कंपनियों के मुनाफे को बढ़ाने के लिए उनके हितों की बलि देता

रहा है। कॉनकोर्ड से लेकर द्वा कंपनियों या सैनिक साज समान अथवा उपभोक्ता उत्पादों के निर्माताओं की शिकायत एक सी है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के हमले की शिकायत सिर्फ तीसरी दुनिया के देश ही नहीं करते, फ्रांस और जर्मनी में भी इस क्षेत्र में अमेरिकी आधिपत्य को लेकर आक्रोश है। 'अमेरिकन चैलेंज' के लेखक ज्यां जाक श्रिबनर ने ही यह शिकायत सबसे पहले की थी। अमेरिकी विश्वदर्शन और उपभोक्ता अपसंस्कृति वाली जीवन यापन शैली की कड़ी आलोचना मार्क्यूस से लेकर शुमाखर तथा युहान गाल्टुंग जैसे दार्शनिक-विचारक 1970 के दशक से ही करते रहे हैं। आर्थिक मंदी की चपेट में फंसे यूरोप की सहायता अपने घर की मंदी की वजह से अमेरिका नहीं कर सका। इन सभी का मिला-जुला असर पुतिन के रूस का मुकाबला करने में नाटो की कमजोरी और लाचारी का असली कारण है।

पुस्तक के नवें अध्याय को उपसंहार या निष्कर्ष कहा जा सकता है। संक्षेप में लेखकों ने वह नुस्खे सुझाए हैं जो अमेरिका को इस जानलेवा रोग के उपचार के लिए चाहिए। इनसे किसी गैर अमेरिकी पाठक का सहमत या असहमत होना निरर्थक है। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह रचना अमेरिकी नीति निर्धारकों और मतदाता को ध्यान में रख कर लिखी तथा प्रकाशित की गई, जान पड़ती है। तब भी यह उन तमाम मुद्दों के बारे में सोचने के लिए पाठक को मजबूर करती है, जिनका अंतर्संबंध समसामयिक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर रहा है और आने वाले विषयों में करता रहेगा। हमारे लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह समझना है कि संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस का टकराव किसी व्यक्ति या व्यक्तित्व की विशेषता के कारण नहीं, बल्कि ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की बदलती धारा के कारण है। यह टकराव सीमित ऊर्जा संसाधनों पर एकाधिकारी आधिपत्य और भूराजनैतिक संवेदनशीलता के कारण ही विस्फोटक बन रहा है।



मणिकांत सिंह

कुछ पुस्तकों का विषय पाठकों के लिए उन्हें आवश्यक या उपयोगी बनाता है तो किसी पुस्तक का प्रमुख आकर्षण उसका लेखक होता है। कई बार विशेषज्ञ और मशहूर हस्तियों द्वारा लिखी किताब में इन दोनों का संयोग हो जाता है। इसके अलावा किसी प्रकाशन का शीर्षक इतना कुतूहल जगाने वाला होता है कि आप उसे उलटने-पलटने के लिए उतावले होने लगते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन सभी का सन्निपात हुआ है।

सबसे पहले लेखक के बारे में। किरण कार्णिक को भारत का सबसे महत्वपूर्ण 'गैर पेशेवर' 'सार्वजनिक बौद्धिक' कहा जाता है। 'गैर पेशेवर' इसलिए कि वह न तो अध्यापक हैं और न ही मीडिया कर्मी। यही दो आजकल समाज के दिशा दर्शक तथा जनमत को प्रभावित करने वाले समझे जाते हैं। कार्णिक ने अपने लंबे सार्वजनिक जीवन में अनेक जिम्मेदारियां संभाली हैं। अहमदाबाद आइआइएम के पहले बैच के स्नातक होने के सात वह प्रसिद्ध वैज्ञानिक विक्रम साराभाई के कार्यकारी सहायक रहे। बाद में यूजीसी के शैक्षिक उपग्रह अभियान कौनसौरशियम ऑफ एजुकेशनल कम्यूनिकेशन्स कार्यक्रम के प्रमुख। भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों को इस माध्यम से जोड़ने का काम इसी दौरान हुआ। यह पद त्यागने के बाद वह डिस्कवरी चैनल की भारतीय शाखा के प्रबंध निदेशक बने। डिस्कवरी ने विषय वस्तु और तकनीकी

द क्रुक्ड माइंड

क्रिएटिंग एन इनोवेटिव सोसायटी

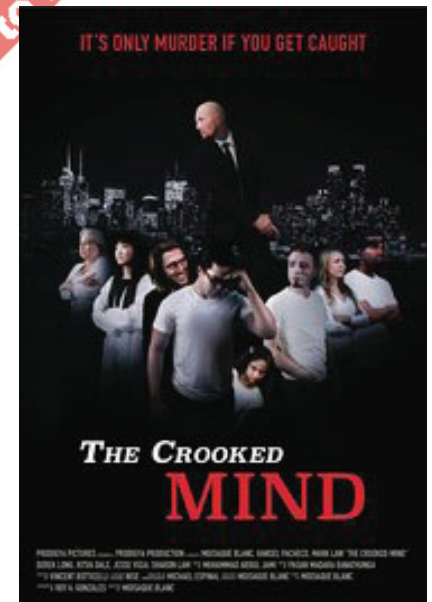
लेखक: किरण कार्णिक, रूपा

कौशल के क्षेत्र में किरण के निदेशन में नए कीर्तिमान स्थापित किए। इसके बाद वह नैसकौम के अध्यक्ष बनाए गए। दिवांग मेहता के ओजस्वी आक्रामक कार्यशैली का बिल्कुल विपरीत ध्रुव किरण ने प्रस्तुत किया। इस उद्योग के जो विश्लेषक यह आशंका व्यक्त कर रहे थे कि कोई भी उत्तराधिकारी दिवांग की अभूतपूर्व उपलब्धियों का मुकाबला नहीं कर सकता, यह मानने को बाध्य हुए कि अपने कार्यकाल में किरण कार्णिक ने कई मील के पत्थर गाढ़ते लंबा सौर तय किया और संस्था को मजबूत बनाया। जब सत्यम घोटाले ने भारतीय आइटी उद्योग को कलंकित किया, तब इस घोटाले के भंवर से निकाल कर सत्यम के नए अवतार महेन्द्रा इन्फोटेक को स्वस्थ बनाने की जिम्मेदारी भी किरण को ही सौंपी गई। इस काम को बखूबी पूरा करने के बाद वह प्रधानमंत्री की तकनीकी सलाहकार परिषद के सदस्य रहे हैं। जब वह इनोवेशन की बात करते हैं, तब यह आशा जगती है कि औद्योगिक प्रबंधन, दूरसंचार, नए शिक्षण संस्थानों और सरकारी नीति निर्धारण जैसे विविध क्षेत्रों के अनुभव से प्राप्त अंतरदृष्टियों का लाभ पाठक को मिलेगा। अब आए विषय की ओर। इनोवेशन हमारे प्रधानमंत्री का प्रिय शब्द है। 'मेक इन इंडिया' और 'स्किल इंडिया' की तरह 'इनोवेटिव इंडिया' की त्रिवेणी ही नए भारत के सपने का संगम है। डिजिटल इंडिया को भी इस अवधारणा से अलग नहीं किया जा सकता।

इनोवेशन का अनुवाद सहज नहीं। यह आविष्कार यानि इवेंशन की तरह मौलिक नहीं और न ही अपनाने और जरूरत के

अनुसार अपने सांचे में ढालने वाले नकलची 'एडोप्शन' और 'एडेप्टेशन' से भी फर्क है। स्थानीय देशज प्रतिभा से अपने देश कालानुरूप किसी उत्पाद या सेवा के विकास इसकी आत्मा है। इस शब्द में नया सोच और नया प्रयोग एक साथ निहित है। मगर यहां यह साफ करने की जरूरत है कि इसे जुगाड़ का पर्याय नहीं समझा जा सकता। पैबंद लगा कर जैसे जैसे फंसी अटकी गाड़ी निकाल ले जाने के लिए जुगाड़ काम लग सकता है, देश को महान बनाने के लिए नहीं। निरंतर सुधार, निखार और उत्कृष्ट गुणवत्ता का संकल्प ही इनोवेशन की कसौटी हो सकते हैं।

इनोवेशन के लिए सबसे सार्थक शब्द नवोत्पादन और नवाचरण लगते हैं। नये के साथ उत्पादन तथा आर्थिक प्रगति में तेजी अनिवार्यतः इस प्रक्रिया के साथ जुड़े हैं।



लेखक नाहक 'इंप्रोवाइजेशन' को बीच में लाता है, इससे पाठक के मूल विषय से भटकने का संकट बढ़ता है। कला विशेषकर नृत्य और संगीत में बिना पूर्वाभ्यास के मौलिक रचनात्मक अभिव्यक्ति स्वतः स्फूर्त 'इंप्रोवाइजेशन' से संभव है, आर्थिक क्षेत्र में नहीं। पुस्तक के एक अध्याय का शीर्षक 'आइडियास टु बेनिफिट्स' भी यही सुझाता है कि महज नए विचार या सोच तब तक निर्जीव रहते हैं, जब तक वह किसी लाभप्रद सक्रियता को प्रेरित नहीं करते। जिन उदाहरणों से लेखक अपने तरक को पुष्ट करता है वह दिलचस्प और विचारोत्तेजक हैं। दुबई के रेगिस्तान को नए सोच से पर्यटक केन्द्र और वित्तीय केन्द्र बनाने की परियोजना की कामयाबी को नकारा नहीं जा सकता, पर यह भी याद रखने की जरूरत है, अगर खाड़ी अमीरात के शेखों के पास इस सपने को साकार बनाने के लिए अपार तेल संपदा न होती तो इस नवोत्पाद का क्या होता? यही बात दूसरे उदाहरण के बारे में भी कही जा सकती है। दुबई की भूराजनैतिक स्थिति और मध्यपूर्व का संकट भी उसकी समृद्धि के साथ जुड़ा रहा है। लास वेगास का अप्रत्याशित विकास अंतर्राष्ट्रीय युवा राजधानी और पर्यटक केंद्र के रूप में पूंजीवादी संयुक्त राज्य अमेरिका में ही संभव है। इस तरह की नैतिकता और आजादी के संस्कार का अन्यत्र अभाव है। नकलचियों की कभी कमी नहीं रही-नेपाल, मकाऊ और भारत में भी कासीनो बनाए गए, पर कहीं भी लास वेगास नहीं बन सका।

पुस्तक का शीर्षक एक गैर जरूरी पहली बुझाता नजर आता है। अंग्रेजी की एक नर्सरी राइम है-वंस देयर वौज ए क्रुकेड मैन आदि। इस लोरी नुमा बच्चों की कविता में सब कुछ टेड़ा-तिरछा है। क्रुकेड यानि टेडे आदमी का घर, उस घर तक जाने वाली सड़क वगैरह। पुस्तक के शीर्षक से यह ध्वनित होता है कि इनोवेशन के लिए जरा टेड़ा-तिरछा होना जरूरी है। यहीं हमारी दिक्कत शुरू होती है। हिंदी मुहावरे में 'सीधी अंगुली से घी नहीं निकलता' अर्थात् क्या सफलता की बुनियादी शर्त सरलता सीधेपन को त्यागना

है? न सही गैर कानूनी पर क्या अनैतिक आचरण को स्वीकार किया जा सकता है? यदि इस नैतिक पक्ष की उपेक्षा की जाती है तब क्या कोई भी इनोवेशन जनहितकारी साबित हो सकता है? यह जरा असंतोष का विषय है कि विद्वान लेखक ने इस पर जरा भी रोशनी नहीं डाली। ऐसा जान पड़ता है कि शीर्षक प्रकाशक ने चुना है-व्यावसायिक कारणों से। पुस्तक की सारी सामग्री सीधी बात वाले अंदाज में सामान्य पाठक के समझ में आने वाली भाषा में ही प्रस्तुत की गई है। बहरहाल, पुस्तक में कुल आठ अध्याय हैं। इनके शीर्षक भी पाठक का कुतूहल जगाने वाले अंदाज में रखे गए हैं। दि ब्लाइंड मैन एंड दि एलिफैंट, ऑल ऑफ द एबव, आइडियास टु बेनिफिट्स, व्हेयर डज इंडिया स्टैंड क्रिएटिंग इनोवेटिव हब्स इंडियाज मोस्ट इनोवेटिव सिटीज, फोस्टरिंग इनोवेशन इन ऑर्गनिजेशन, ए थाउजेंड फ्लॉवर्स ब्लूमिंग। पांच अंशों द्वारा हाथी के विभिन्न अंगों को हाथ लगा कर उसका वर्णन करने वाली लोककथा पुरानी है और यह कहने के लिए कि इनोवेशन बहुआयामी है, जिसकी 'पहचान' देखने वाले का नजरिया तय करता है गैर जरूरी लगता है। शेष सामग्री में तीन अध्याय विशेष रूप से पठनीय है। 'व्हेयर डज इंडिया स्टैंड', 'इंडियाज मोस्ट इनोवेटिव सिटीज' और 'फोस्टरिंग इनोवेशन इन ऑर्गनिजेशन'।

'व्हेयर डज इंडिया स्टैंड' में जिन तथ्यों का सर्वेक्षण किया गया है, उनके बारे में मतभेद संभव नहीं। मसलन भारत में साक्षरों की संख्या में वृद्धि शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार का पर्याय नहीं अथवा निजी और सरकारी शिक्षण संस्थाओं के स्तर में भारी अंतर। इसके साथ-साथ सामाजिक विकास के सूचकांकों में भारत का नीचा स्थान लिंगभेदी अन्याय या सरकारी भ्रष्टाचार मात्र से विश्लेषित नहीं किया जाना चाहिए। निजी क्षेत्र के उद्यमियों की नवोत्पादी सफलता बड़ी सीमा तक सार्वजनिक संसाधनों पर नाजायज कब्जा करने पर निर्भर रही है। भारत में बैंकिंग प्राणाली का संकट इस बिरादरी के इनोवेटिव सोच से ही पैदा हुआ

है। कुल मिलाकर इसकी अनदेखी कठिन है कि शिक्षा या स्वास्थ्य सेवाओं के बारे में इनोवेशन निपट अभाव देखने को मिला है। अधिकांश निजी शिक्षण संस्थान आभिजात्य वर्ग की ही पहुंच में हैं और जनहित के लिए नहीं व्यावसायिक लाभ के लिए ही चलाए जाते हैं। इसके अलावा गुणवत्ता के विदेशी (विलायती-अमेरिकी) पैमानों पर भारतीय विश्वविद्यालयों का वरीयता श्रेष्ठता क्रम तय करना अक्लमंदी नहीं लगता। विडंबना यह है कि किरण भी इस मरीचिका में फंस जाते हैं। यह बात छिपी नहीं कि प्रख्यात अमेरिकी तथा विलायती विश्वविद्यालय अपना महिमामंडन और भारतीय संस्थानों का मान मर्दन अवमूल्यन एक सुनियोजित रणनीति के अनुसार करते हैं, व्यावसायिक कारणों से और नव साम्राज्यवादी अहंकारी मानसिकता के अनुसार करते हैं। इसे यथावत् स्वीकार करना मानसिक दासता को ही दर्शाता है। चीनी, रूसी, जापानी अपनी भाषाओं में शोध और शिक्षण करते हैं। इनके मूल्यांकन का कोई तर्कसंगत साधन पश्चिमी सूची निर्माताओं के पास नहीं। सामाजिक विकास सूची में भी भारत सहारा के दक्षिणवर्ती अफ्रीका बांग्लादेश तथा नेपाल से नीचे रखा जाता है। हमारा कहना यह नहीं कि भारत की स्थिति शोचनीय नहीं, पर इनोवेशन के लिए संभावनाओं की पड़ताल करते वक्त यह विदेशी चश्मे किसी काम के नहीं।

जिन शहरों को किरण नवोत्पादन के लिए सबसे बेहतरीन संभावना वाला मानते हैं, उनमें मुंबई, पुणे तथा हैदराबाद और बेंगलुरु का शामिल किया जाना आश्चर्यजनक नहीं। पर जिन नगरों को वह सभी गुणों से संपन्न होने के बावजूद पिछड़ता समझते हैं, निश्चय ही हमें बहुत कुछ सोचने को मजबूर करते हैं। इनमें अहमदाबाद प्रमुख है। इस अध्याय में बहुत बार जटिल समाजशास्त्रीय मुद्दों के बारे में बहुत व्यापक सरलीकरण भी किया गया है और बहुत सारी ऐतिहासिक सामग्री एक ही स्रोत पर आधारित है। गुजरे औपनिवेशिक जमाने में 'इनसायक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' प्रमाणिकता की कसौटी माना जाता था। आज बार-बार इसी को उद्धृत करना

श्रमसाध्य शोध से कतराना ही लगता है। हाँ, लेखक द्वारा यह याद दिलाना उपयोगी है कि कैसे भारत के अनेक महानगर मात्र चार सौ साल पुराने हैं। औद्योगिकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया अभी वयस्क नहीं समझी जा सकती। मुंबई, चेन्नई और कोलकाता का विकास इनोवेशन से कहीं ज्यादा ऐतिहासिक घटनाक्रम, बलात थोपी औपनिवेशिक नीतियों तथा अंतर्राष्ट्रीय उथल-पुथल से प्रभावित हुआ है। मसलन मुंबई का कपड़ा उद्योग के मुख्य केन्द्र के रूप में विकसित होना अमेरिकी गृह युद्ध के बिना संभव ही नहीं था। कोलकाता और चेन्नई भी मुंबई की तरह सागर तटवर्ती या सागर के निकट हैं। यहां केवबारे में 'नया सोच' और इनोवेशन सुनियोजित नहीं संयोग और आकस्मिक अधिक रहा है। निरंकुश सनकी या सुधारक प्रशासकों की तुनकमिजाजी का परिणाम।

भारतीय उपमहाद्वीप के विकास में क्षेत्रीय असंतुलन का विश्लेषण बहुत किया जा चुका है। तटवर्ती परिधि की नैसर्गिक प्रगतिशीलता और हृत्स्थल की दकियानूसी निष्क्रियता का भी पिष्टपेषण होता रहता है। उत्तर और दक्षिण, पूरब और पश्चिम को इस आधार पर बांटने के राजनैतिक कारण भी स्पष्ट हैं।

यहीं लेखक के एक बड़े पूर्वाग्रह का उल्लेख परमावश्यक है। क्या इनोवेशन सिर्फ शहरी अवधारणा है, जिसे औद्योगिक उद्यम ही साकार कर सकता है? क्या कृषि पर जीवन यापन के लिए आधारित भारत की बहुसंख्यक आबादी के लिए इसमें कोई जगह नहीं? लेखक के मार्गदर्शक विक्रम साराभाई स्वयं एक विख्यात उद्योगपति परिवार के वंशज थे और अंतरिक्ष वैज्ञानिक पर बड़ी प्रयोगशालाओं तथा प्रबंधन संस्थानों के साथ उन्होंने हस्तशिल्प और ग्रामोद्योगों के कार्याकल्प की मंशा से नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ डिजाइन और इंस्टिट्यूट ऑफ रूरल मार्केटिंग जैसे संस्थानों को भी उतना ही महत्वपूर्ण समझा। जिस साइट कार्यक्रम के साथ स्वयं कारण जुड़े रहे वह समग्र ग्रामीण विकास को गतिशील बनाने वाले सामुदायिक कार्यक्रम का ही हिस्सा था। यहां यह भी याद दिलाने की दरकार है कि गुजरात में ही

वीजी कुरियन ने दुग्ध उत्पादकों के सहकारी संगठन के जरिए अमूल वाली जिस श्वेत क्रांति का सूत्रपात किया, वह गांधीवादी सोच से प्रेरित स्वदेशी इनोवेशन का ही उत्कृष्ट प्रमाण है। पता नहीं क्यों इसे कार्णिक भूल गए?

अगर किरण कार्णिक जरा भी प्रयास करते तो उन्हें इजरायल में कृषि के क्षेत्र में नवोत्पादन अर्थात् अपनी आवश्यकतानुसार टेक्नोलॉजी और नई सोच के अनुसार अभूतपूर्व प्रगति के अनुकरणीय उदाहरण जमा करने में कठिनाई न होती। भारत को खाद्यान्नों के मामले में आत्मनिर्भर बनाने वाला हरितक्रांति का अभियान प्रयोगशाला तथा खेतिहर किसान के बीच सहकार के बिना असंभव था। यह भी याद रखने लायक है कि इस अभिनव प्रयोग को नोर्मन बोलौंग के मेक्सिको वाले काम को भारत में स्वामीनाथन द्वारा भारतीय परिवेश में मिशनरी भाव से प्रचारित करने ने अंजाम दिया था। स्वामीनाथन की सफलता उनको तत्कालीन कृषि मंत्री सी. सुब्रह्मण्यम के अटूट समर्थन से अलग नहीं कर सकते। यहां एक और मुद्दा विचारणीय है। इनोवेशन की सफलता किस हद तक सरकार की नीतियों और राजनेता के समर्थन पर निर्भर होती है? यही प्रश्न सैम पित्रोडा के तेजस्वी नेतृत्व में भारत में टेलीफोन क्रांति के बारे में भी उठाया जा सकता है। यदि पित्रोडा पहले इंदिरा गांधी और बाद में राजीव के चहेते न रहे होते तो क्या कुछ कर पाते? राजीव के देहांत के बाद भी पित्रोडा कांग्रेसी सरकार में दरबारी नवरत्न बने रहे थे, पर किसी दूसरे क्षेत्र में अपनी कामयाबी को दोहरा नहीं सके। इस क्षेत्र में कई इनोवेटिव पहल संपन्न हुईं, पर जब शिक्षा सुधार के लिए ज्ञान आयोग का अध्यक्ष पित्रोडा को बनाया गया, तब वह बुरी तरह विफल रहे। ताकतवर न्यस्त स्वार्थों के प्रतिरोध की क्षमता की अनदेखी इनोवेशन के लिए घातक ही साबित हो सकती है।

पुरानी कहावत है कि 'आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है।' इनोवेशन के लिए विख्यात सभी समाज-देश इसे प्रमाणित

करते हैं। कोई भी नयी पहल तभी मजबूत जड़े जमा सकती है, जब वह 'बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय' हो। सीएसआइआर के पूर्व महानिदेशक मशेलकर का मानना था कि असली इनोवेशन वही है जो न्यूनतम संसाधनों के निवेश/व्यय से अधिकतम जनसंख्या को लाभ पहुंचा सके। उत्पादन को अधिक कार्यकुशल बनाना या किसी चमत्कारी उत्पाद को बाजार में पेश करना अपने आप में बड़ी उपलब्धि नहीं समझे जा सकते। चौथाई सदी पहले तत्कालीन सूचना और प्रसारण सचिव एस.एस.गिल ने सैटेलाइटों के अभाव को दूर करने के लिए जमीन पर ही लो पावर ट्रांसमिटर का जाल फैला देशव्यापी दूरदर्शन कार्यक्रमों का प्रसारण संभव बनाया था। इस इनोवेशन ने मनोरंजन के उद्योग को ही नहीं पनपाया, बल्कि विभाजक विविधता से भरे देश में भावनात्मक एकता को भी पुष्ट किया।

भारत में आइटी क्षेत्र से इतर सफल नवोत्पादन के अनेक महत्वपूर्ण उदाहरण हैं जिनकी लेखक द्वारा अवहेलना खिन्न करती है। 'जयपुर फुट' के निर्माता डाक्टर सेटी हों या फिर सुलभ शौचालयों का आंदोलन छेड़ने वाले विदेशी पाठक इनका नाममात्र के लिए भी जिंक्र न करना खटकता है।

कार्णिक 'हब्स एंड स्पोकस' की बात भी करते हैं, अर्थात् पहिए की परिधि और धुरी से जुड़े केंद्र से निकलने वाली शलाकाओं की। यह रूपक पहले भी पूर्व राष्ट्रपति और राकेट वैज्ञानिक एपीजे कलाम द्वारा इस्तेमाल किया जा चुका है-कहीं अधिक सार्थक तरीके से। 'पूर्वा' नाम वाली जिस परियोजना की रूपरेखा कलाम ने प्रस्तुत की उसमें महानगरों, राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित गांवो-कस्बों को परस्पर निर्भर सहयोगी विकास के लिए तैयार करने की अनिवार्यता का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। इस सपने में कृषि एवं कृषि पर आधारित उद्योगों के समन्वित संतुलित समावेशी विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है। कलाम के इस इनोवेशन के लिए न तो 'वेंचर कैपिटल' की जरूरत है न ही 'किसी इनक्यूबेटर' की। राजनैतिक इच्छाशक्ति और राष्ट्रीय संकल्प

ही कामयाबी की कुंजी है। चीन, इजराइल और सिंगापुर जैसे भिन्न राज्यों का अनुभव यही दर्शाता है। उद्यमिता के संस्कार को किसी एक समुदाय विशेष की जन्मजात प्रतिभा तक सीमित रख उसका महिमामंडन भी भारत के लिए नुकसानदेह ही रहा है।

लेखक संगठनों-संस्थानों में नए सोच इनोवेशन पर विस्तृत टिप्पणी जरूरी समझता है, पर जनांदोलनों के संदर्भ में मौन रहता है। पर्यावरणीय चेतना के प्रसार में उत्तराखंड के 'चिपको आंदोलन' की जो भूमिका रही है वह निरक्षर देहाती महिलाओं के नवल सोच से ही ऊर्जावान बन सका था। मेधा पाटकर के नाम के साथ जुड़ा 'नर्मदा बचाओ' आंदोलन हो या नोबल पुरस्कार विजेता कैलाश सत्यार्थी का 'बचपन बचाओ' यह सार्थक देशज इनोवेशन ही तो हैं। संस्थानों में भी कार्णिक न्यायपालिका की जनहित याचिका वाली पहल या संसद द्वारा सूचना के अधिकार वाले कानून को पारित करने वाली पहल का भी मूल्यांकन नहीं कर पाए हैं। बाबा रामदेव ने योग शिक्षा शिविरों से आरंभ कर जिस विशाल औद्योगिक साम्राज्य की स्थापना की है, वह इनोवेशन की तोता रटत करने वाली कई बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए अस्तित्व का संकट पैदा कर चुका है। इसके पहले भी इला बेन का लिज्जत पापड़, कुटीर उद्योग या निरमा वौशिंग पाउडर के देशी सोच ने करोड़ों जिंदगियाँ बदल डाली हैं। यह जोड़ने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि यह काम बिना संगठनात्मक मनोविज्ञान की विशेषज्ञता के ही साधा जा सका था।

प्रबंधन की दुनिया में ऑर्गेनिजेशनल बिहेवियर यानि संस्थागत आचरण और मानव संसाधनों को खास अहमियत दी जाती है। किसी औद्योगिक समूह, बड़ी कंपनी के मूल्य, कार्यशैली से अनभिज्ञ कर्मचारी और प्रबंधक सफल नहीं हो सकते। भारत में टाटा समूह या 'हीरो-होंडा' कंपनी को 'इंफोसिस' या 'विप्रो' के पदार्पण के पहले ही पारिवारिक स्वामित्व वाली दूसरी कंपनियों से फर्क समझा जाता रहा है। 'टाटा समूह' तथा 'इंफोसिस' में उत्तराधिकार को लेकर

चल रही रस्साकशी यह दर्शा रही है कि नई सोच, नए मूल्यों तथा नए आचरण का इनका दावा कितना खोखला या भंगुर था।

असली सवाल यह है कि किस तरह की कंपनियां इनोवेशन को मौलिक नई सोच और प्रयोग को प्रोत्साहित करती हैं और कौन नकलची महारत से तत्काल लाभ उठाना चाहती हैं। यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि यदि कोई नवोत्पादन इजारेदारी को बढ़ाता है और उसकी नींव भ्रष्टाचार में टिकी है तो क्या उससे जनहित या देश का विकास संभव है?

किरण कार्णिक ने बहुत सारे महत्वपूर्ण मुद्दों को छुआ भर है, उनकी तटस्थ पड़ताल का काम अधूरा ही छूटा रहा है। ऐसा लगता है कि पुस्तक प्रकाशक के आग्रह पर बहुत जल्दबाजी में लिखी गई है। अन्य मशहूर हस्तियों की तरह कार्णिक ने ऐसे शोध सहायकों को यह काम सौंपा है, जिन्होंने आसानी से सुलभ जानकारी को ही शोध का पर्याय मान लिया है। यह बात सीमित पाद टिप्पणियों से उजागर होती है और संक्षिप्त ही सही संदर्भ ग्रंथों या लेखों की सूची के अभाव से भी।

नैसकौम के पूर्व अध्यक्ष का सूचना प्रौद्योगिकी का पक्षधर होना तो समझ में आता है, पर इस कारण अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा अनदेखी असंतुलित निष्कर्षों को ही जन्म देती है। 'पेटेम' हो या कोची का इनोवेशन विलेज, वेंचर कैपिटलिस्ट प्रोत्साकों का एंजल फंड हो या फिर राष्ट्रीय इनोवेशन कौंसिल इन सभी का फोकस आईटी पर ही रहा है। कार्णिक को जो बात इन्फोसिस या टीसीएस का नवोत्पादक, नवाचारी सोच दिखलाई देता है, उसी सिक्के का दूसरा पहलू दूरदर्शी अमेरिकी कंपनियों द्वारा भारतीय सॉफ्टवेयर इंजीनियरों की प्रतिभा को कुंठित करने वाली साइबर कुलियों के रूप में उनके शोषण की साजिश महसूस होती है।

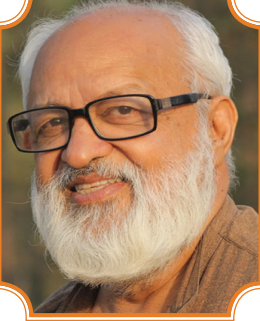
इस इनोवेशन ने भारत को परावलंबी परजीवी ही बनाया। आज एच-1 वीजा में कटौती से जो संकट पैदा हुआ है, उसकी जड़ें इसी अदूरदर्शी 'इनोवेशन' में छिपी हैं। 'आउटसोर्सिंग' और 'ऑफ शोरिंग' का

जैसा लाभ चीन ने अपने इनोवेटिव सोच से उठाया वैसा भारत नहीं कर सका। एप्पल जैसी कंपनियां चीन में हार्डवेयर के लिए पहुंची और उनके लिए काम करते चीन ने अपने सस्ते एप्पल जैसे फोन बनाना शुरू कर दिया। चीनी सॉफ्टवेयर कारीगर 'साइबर कुली' नहीं बने कभी भी।

यदि नवोत्पादन-इनोवेशन निरंतर जारी नहीं रहता, तो रूढ़ि की बेड़ी बन जाता है। कभी अपने कैमरों तथा फिल्मों के लिए मशहूर कोडक कंपनी के पिछड़ने का उल्लेख लेखक करता है, परंतु इसके लिए क्या विश्व के दूसरे कम संपन्न देशों की उत्कट प्रतियोगी चुनौती जिम्मेदार नहीं थी? अभाव ग्रस्त समाज में सस्ता उत्पादन हो टेक्नालॉजी का अप्रत्याशित विकास इनके सामाजिक कारणों की अनदेखी सही नतीजों तक पहुंचने से हमें भटका ही सकती है। यह न भूलें कि इनोवेशन के सभी 'सफल' प्रयास सर्वत्र अनुकरणीय नहीं समझे जा सकते और न ही चिरजीवी होते हैं।

नए भारत के निर्माण के लिए जिस अभिनव सोच और नवाचरण की आवश्यकता है, उसका आयात नहीं किया जा सकता। देशज प्रतिभा को केन्द्रीय स्थान देने के साथ-साथ देशी-प्रादेशिक परिवेश (राजनैतिक-सामाजिक, लोक सांस्कृतिक) के अनुकूल स्थानिक जरूरतों की पूर्ति से प्रेरित प्रयास ही सफल हो सकता है। सबसे महत्वपूर्ण चुनौती यह है कि किसी एक क्षेत्र को ही इनोवेशन की पहल में माहिर या समस्त आर्थिक क्रिया कलाप के लिए निर्णायक महत्व का नहीं समझा जा सकता। यह बात जरूर निराश करती है कि अपने विविध अनुभवों के निचोड़ का साझा इस पुस्तक में लेखक नहीं कर सका है और कुछ ही उदाहरणों के आधार पर सामान्यीकरण करता नजर आता है। तब भी पुस्तक निस्संदेह रूप से विचारोत्तेजक है, सरस शैली में लिखी गई है और हमारे सामान्य ज्ञान में इजाफा करती है।





दि ब्राकेन लैडर

लेखक : अनिरुद्ध कृष्णा, प्रकाशक पैंगविन वाइकिंग नई दिल्ली

प्रो. पुष्पेश पंत

आन्ध्र प्रदेश में जन्मे इस पुस्तक के लेखक ने दिल्ली विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम.ए. की पढ़ाई पूरी करने के बाद आई.ए.एस. की परीक्षा उत्तीर्ण की। 15 वर्ष तक मध्य-प्रदेश के ग्रामीण अंचल में काम करने के बाद वह आगे की पढ़ाई के लिए अमेरिका चले गए। विश्व-विख्यात कोरनेल विश्वविद्यालय से पीएचडी की डिग्री अर्जित करने के बाद उन्होंने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। पिछले कई वर्ष से वह अमेरिका के श्रेष्ठतम समझे जाने वाले शिक्षण संस्थानों में से एक ड्यूक यूनिवर्सिटी में पॉलिटिकल साइंस और पब्लिक पॉलिसी के प्रोफेसर के रूप में काम कर रहे हैं। हर वर्ष वह कुछ महीने के लिए भारत लौटते हैं और आन्ध्र-प्रदेश के देहाती अंचल में अपने घर में यथासंभव बाकी गांव वालों की तरह ही रहने की कोशिश करते हैं। गांव वालों से बातचीत कर और उनकी रोजमर्रा की जिंदगी का हाल-चाल, वह अनुशासित समाजशास्त्री की तरह पता करते रहे हैं। सतही नजर वाले पाठक को ही ऐसा लग सकता है कि वह किस्सागोई कर रहे हैं, जबकि हकीकत यह है कि यह पुस्तक लेखक के डेढ़-दो दशक के शोध का निचोड़ है।

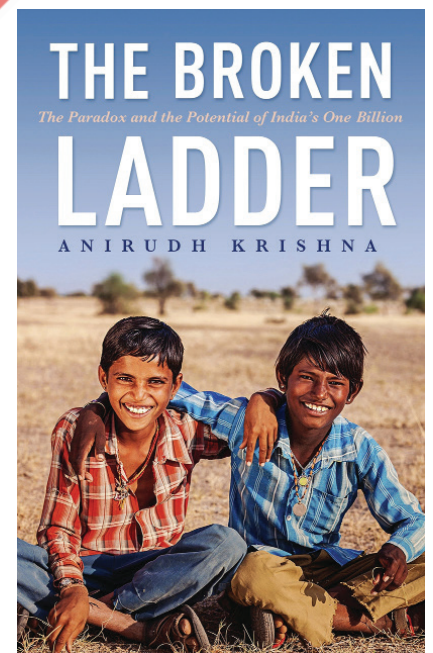
अनिरुद्ध कृष्णा की गहरी रुचि गरीबी और गरीबी से मुक्ति वाली सरकारी नीतियों में हैं। हाल के वर्षों में उन्होंने भारत, अफ्रीका और अमेरिका में पैंतीस हज़ार निर्धन परिवारों

के बारे में आंकड़े जुटा कर कुछ पारंपरिक प्रचलित अर्थशास्त्रीय स्थापनाओं को चुनौती दी है। इसीलिए यह पुस्तक महत्वपूर्ण समझी जानी चाहिए।

अपनी भूमिका में लेखक इस बात को स्पष्ट कर देता है कि उसका दृष्टिकोण इसी विषय पर काम करने वाले नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्यसेन और उनके सहयोगी ज्यादेस से भिन्न है। जहां अमर्त्यसेन आदि की दृष्टि 'विहंगम' है स्वयं उनका नज़रिया दूर्वाजड़ों (ग्रासरूट्स) वाला है। अमर्त्यसेन का मानना है कि यदि आर्थिक विकास की गति तेज होती है तो इसका लाभ अनिवार्यतः समाज के वंचित तबके को होता है। त्वरित आर्थिक विकास का लाभांश स्वास्थ्य और शिक्षा सेवाओं में होने वाली समाज कल्याण की योजनाओं पर खर्च की जाने वाली निर्धारित राशि में वृद्धि से होता है। अनिरुद्ध कृष्णा का मानना है कि ज़मीनी हकीकत कुछ और ही बयान करती है।

यह जरूरी नहीं कि आर्थिक विकास सामाजिक विषमता की गैर बराबरी को घटाता है। विडंबना यह है कि अक्सर त्वरित विकास के कारण संपन्न और विपन्न तबकों के बीच की खाई और भी गहरी और दर्दनाक होती जाती है। सरकारी नीतियां चाहे कुछ भी व्यवस्था करती हो समाज का ताकतवर तबका विकास के लाभ को अपने कब्जे से बाहर नहीं जाने देता। दलित

हो या पिछड़े उनके लिए तय आरक्षण का लाभ 'मलाईदार परत' घसीटने और पचाने में सफल रहे हैं। अनिरुद्ध कृष्णा का मानना है कि समाज के गरीब तबके में कोई अखिल भारतीय समरसता नहीं और क्षेत्रीय सांस्कृतिक आधार पर गरीबी से छुटकारा पाने का प्रयास व्यक्ति या समूह अपनी-अपनी तरह से करता है। पुस्तक का शीर्षक जिस सीढ़ी का रूपक इस्तेमाल करता है उसके बारे में एक टिप्पणी बेहद जरूरी है। नीचे से ऊपर उठने के लिए गरीब आदमी या विपन्न समूह किसी ना किसी सीढ़ी का उपयोग करता है। जाहिर है, यदि





ये सीढ़ी टूटती है तो किसी काम की नहीं। सीढ़ी की मरम्मत भी की जा सकती है या ऊपर उठने के लिए जो कोई साधन सुलभ हो उसका उपयोग एक सीढ़ी के रूप में किया जा सकता है। इसी संदर्भ में लेखक ने दो-तीन ऐसी बातों का उल्लेख किया है जो काफी विचारात्तेजक हैं। हर व्यक्ति या कोई एक समूह अपनी सूझबूझ और सोच के अनुसार ही किसी सीढ़ी को चुनता है। यह जरूरी नहीं कि सभी समानरूप से सफल होते हैं। कुछ लोग गरीबी से निजात पाते हैं तो कुछ वहीं के वहीं रह जाते हैं। इतना ही नहीं जहां समाज में कुछ लोग गरीबी की सीमारेखा से ऊपर उठते हैं, वहीं इसी कालावधि में कुछ लोग जो अबतक ऊपर थे, इसके नीचे डूब जाते हैं। इसी कारण लेखक का मानना है कि विहंगावलोकन (बर्ड्स आईव्यू) की तुलना में दूर्वाजड़ो वाला (ग्रासरूट्स अपरोच) तरीका बेहतर है, गरीबी के विश्लेषण के लिए और भारत जैसे बहुलता से भरे समाज में इसका समाधान सुझाने के लिए।

लेखक ने पुस्तक को आठ अध्यायों में बाँटा है, जिन्हें अपने आप में संपूर्ण स्वाधीन निबंधों के रूप में पढ़ा जा सकता है, किसी भी क्रम में। जब आप पूरी पुस्तक पढ़ लेते हैं, तब यह पता चलता है कि इन्हें कितने कौशल से बना गया है और यह किस तरह

परस्पर पूरक है। पहले अध्याय का शीर्षक है दि डॉलर इकोनॉमी एण्ड दि रुपी इकोनॉमी। लेखक एक ऐसे यथार्थ की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करता है जो अक्सर अनदेखा रह जाता है। आज के भारत की कुल आबादी सिर्फ अमीरों और गरीबों या शहरियों और देहातियों के बीच नहीं बंटी, एक बड़ा विभाजन उन पैमानों के आधार पर भी है, जिनको अपनाकर हम सोचते हैं, अपनी जिंदगी के बारे में फैसलें लेते हैं और आर्थिक विकास की सफलता या विफलता आंकते हैं। लेखक के अनुसार भूमंडलीकरण का एक बड़ा असर यह हुआ है कि कुछ लोग

अमेरिकी डॉलर को मानक मुद्रा मानकर अपनी जिंदगी बसर करने लगे हैं। उनके लिए आबादी का वह बहुसंख्यक तबका गौण है जो अपनी रोजमर्रा की जिंदगी रुपये की अर्थव्यवस्था के अनुसार बसर करता है।

गरीबी की पैमाइश करने वाले सरकारी आंकड़ों में भी डॉलर वाले पैमाने का ही बोलबाला है। अर्जुन सिंह गुप्ता की रिपोर्ट के अनुसार जिस परिवार का खर्च प्रतिदिन दो डॉलर से कम होता है उसे गरीबी की सीमारेखा से नीचे वाला माना जाना चाहिए। भारतीय रुपयों में विनिमय के बाद दो डॉलर की कीमत 120 से 130 रुपये के बीच आंकी जा सकती है। इस राशि में सभी कुछ शामिल है। रिहायशी मकान के किराये का हिस्सा, खाने, दवाई, पढ़ाई की फीस, यात्रा व्यय और मनोरंजन का भी। यदि एक औसत परिवार को पांच सदस्यों वाला माने तो प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन खर्च के लिए उपलब्ध रकम 12-13 रुपए के बीच बैठती है। एक विचित्र बात यह है कि गरीबी या खुशहाली का मानकीकरण करने के लिए जिस पैमाने का उपयोग किया जाता है वह अमेरिकी हैमबर्गर की कीमत है जो डॉलर में आंकी जाती है। जाहिर है जिस भाव मैगडोनाल्ड का हैमबर्गर अमे. रिका में बेचा जाता है वह उसी भाव से किसी विकासशील देश में नहीं बेचा जा

सकता। पर तब भी गरीब देश में भी अनेक ऐसे व्यक्ति और समूह होते हैं जो आज भूमंडलीकरण के युग में इस अन्तर्राष्ट्रीय फास्टफूड का उपभोग इच्छानुसार कर सकते हैं। इसे पर्चेस पावर पैरेटी का नाम दिया जाता है अर्थात् अपने समाज और आर्थिक विकास के स्तर को देखते हुए किसी अन्तर्राष्ट्रीय उत्पाद को खरीद सकने की क्षमता। हैमबर्गर जैसे उत्पाद की कीमत को मैगडोनाल्ड जैसी कंपनी स्थानीय राष्ट्रीय औसत आय को ध्यान में रखते हुए ही तय करती है। यह बात रेखांकित करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि राष्ट्रीय आय के बारे में इस तरह का अमूर्त या विहंगावलोकन उत्पादक कंपनी के अलावा किसी और काम का नहीं। ऊपर गरीबी के बारे में जिन सर्वविदित आंकड़ों का उल्लेख किया गया है उनसे यह बात साफ हो जाती है कि भारत में सस्ते से सस्ता शाकाहारी मैगडोनाल्ड हैमबर्गर खरीदने के लिए एक निर्धन व्यक्ति को 4-5 दिनों के जीवनयापन के लिए सुलभ या अर्जित धनराशि को खर्च करना पड़ेगा।

पलभर के लिए रुपये वाली अर्थव्यवस्था के लिए लौटे। सड़क किनारे किसी खोमचे पर बिकने वाली आधा प्याला चाय की कीमत भी रुपये से कम नहीं होती और छोटे से छोटा घटिया या बासी समौसा भी 3-4 रुपये से कम का नहीं होगा। ढाबे की एक रोटी तकरीबन 5 रुपये की होती है अर्थात् निर्धन व्यक्ति के लिए रुपयों की अर्थव्यवस्था भी जीवन को दूभर बनाये हुए है। दुर्भाग्य यह है कि जो लोग आर्थिक विकास और समाज कल्याण विषय पर नीतियां बनाते हैं, वह अपनी जिंदगियां भारत में रहते हुए भी डॉलर इकोनॉमी में बसर करते हैं और इसी कारण रुपयों वाली अर्थव्यवस्था की हकीकत को अनदेखा कर विश्लेषण और नीति निर्धारण करते हैं। यही कारण है कि मनोवांछित लाभ किसी को नहीं हो पाता। लेखक ने एक और बात की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। भारत की गरीबी की तुलना अमेरिका या किसी और देश की गरीबी की तुलना से करना तर्कसंगत नहीं;

खासकर, डॉलर वाले पैमाने का इस्तेमाल कर। मिसाल के तौर पर अमेरिका के गरीब को जिस तरह की सार्वजनिक-सामाजिक सुरक्षा मिलती है, उसकी कल्पना भारत में नहीं की जा सकती। इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय पड़ताल से यह बात उजागर हुई है कि समाज कल्याण के अनेक सूचकांकों में भारत अपने से कहीं अधिक गरीब नेपाल, बांग्लादेश और सहारा के दक्षिणवर्ती देशों से भी पीछे है। दूसरे शब्दों में इन देशों में अधिकांश लोगों का जीवनयापन बराबर अभाव में होता है तथा शिक्षा, चिकित्सा और पोषण के मामले में सभी विपन्नों की पहुँच भारतीय गरीब की तुलना में बेहतर है और इसी कारण गरीबी की यंत्रणा अपेक्षाकृत कम दुखदाई है।

दूसरे अध्याय का शीर्षक है - 'बियाँड द फाइव किलोमीटर्स विलेजिस वियर दि लाइट्स आर नॉट शाइनिंग ब्राइट।' इतना लंबा शीर्षक पहले-पहल तो बड़ा अटपटा लगता है, पर जरा गंभीरता से सा-चने पर इसकी सार्थकता महसूस होती है। अक्सर भारत के बारे में यह दावा किया जाता है कि उसकी विकासदर बीच-बीच में चीन से भी तेज रही है। वह लगातार चमक-धमक के साथ प्रगतिपथ पर आगे बढ़ रहा है। अपने चुनाव अभियान के दौरान एनडीए-1 सरकार ने शाइनिंग इंडिया का नारा बुलंद किया था। उसकी हार के लिए इस बात को जिम्मेदार ठहराया गया है कि अधिकांश मतदाताओं के लिए यह नारा विश्वसनीय साबित नहीं हो सका। इसके भी बरसों पहले चौधरी चरण सिंह जैसे किसान नेता यह शिकायत मुखर करते रहे हैं कि भारत आजादी के बाद दो देशों में बंट गया है। एक विकसित, आधुनिकता का दंभ रखने वाला, पश्चिमी तौर-तरीके वाला शहरी भारत जहाँ देश की आबादी का एक छोटा हिस्सा रहता है और 'असली भारत' जो ग्रामवासी, परन्तु पिछड़ा और देशी संस्कार वाला है। 'इंडिया और भारत' वाली यह बहस काफी पुरानी है और यह भी कहा जा सकता है कि इसी बहाने औद्योगीकरण और खेती-बाड़ी का द्वंद्व भी मुखर होता

रहा है। यहाँ इस जटिल विषय पर विस्तार से टिप्पणी संभव नहीं और शायद जरूरी भी नहीं है। तब भी इतना समझने की जरूरत है कि इस विषय में समानीकरण और सरलीकरणों से बचने की जरूरत है। अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने भारत को दूसरे कई खांचों में भी बांटा है। इनमें एक उत्तरी और दक्षिणी भाग का विभाजन है तो दूसरा पूर्वी और पश्चिमी भाग का। जयराम रमेश जैसे विश्लेषकों का मानना है कि कानपुर के पश्चिम में और नर्मदा नदी के दक्षिण में विकसित भारत बसता है- तरक्की पसंद और उद्यमी। इसकी तुलना में हिन्दी पट्टी उर्फ गोबर पट्टी दकियानूसी की मारी है, रूढ़ीग्रस्त और भाग्यवादी ऊर्जा की भी और भी पूरब की ओर जाये तो पश्चिमी बंगाल की रोमानी क्रांतिकारिता आर्थिक प्रगति के मार्ग में बाधक बनती रही है। यहाँ भी एक बार फिर तत्काल यह दोहराने की जरूरत है कि इस मामले में भी समानीकरण या सरलीकरण नादानी है। न तो उत्तर भारत के सभी गांव इस विभ. ाजक सांचे में फिट होते हैं और न ही दक्षिण या पश्चिमी भारत पर यह टिप्पणी लागू होती है। अगर किसानों की आत्महत्या से जुड़े आंकड़ों को ही देखें तो यह बात साफ होती कि महाराष्ट्र और आन्ध्र-प्रदेश में इस तरह की घटनायें अधिक हुई हैं। प्रगतिशील और खुशहाल समझे जाने वाले राज्यों पंजाब और हरियाणा की लिंग भेदी दकियानूसी या खाप पंचायतों का सामाजिक उत्पीड़न उत्तर प्रदेश या बिहार की दकियानूसी को मात देता नज़र आता है। तमिलनाडु हो या आन्ध्र प्रदेश व्यक्तिपूजक समर्थकों का भक्तिभाव जनतंत्र की खिल्ली उड़ता नज़र आता है। यहाँ भी लेखक की एक मौलिक स्थापना जो शीर्षक से जुड़ी है काफी विचारोत्तेजक है। लेखक का मानना है कि विकासशील भारत की चकाचौंध गिने-चुने शहरों तक ही सीमित है। शहरों की सीमा से करीब पांच किलोम. ीटर बाहर तक ही इस उजाले का प्रभामण डल फैला है, इसके आगे बत्तीगुल हो जाती है। कुछ वर्ष पहले भारत की जनगणना के दस्तावेज़ों में इस बात को रेखांकित

किया गया था कि 21वीं सदी के पहले दशक की दहलीज पार कर चुके भारत का विभाजन सिर्फ शहरों और गांवों में नहीं किया जा सकता। महानगरों की परिधि पर बसे छोटे-बड़े कस्बों की जिंदगियां रोजगार, शिक्षा-चिकित्सा की दृष्टि से इन महानगरों से गुंथी हैं, इन्हें कुछ समाजशास्त्री अरबन एंगलोमरेट का नाम देते हैं। महानगरों के भीतर जाने कितनी छोटी-बड़ी अनाम मलिन बस्तियां हैं जो नागरिक सुविधाओं से वंचित हैं और इनका वर्णन शहरी गांवों के रूप में किया जाता है। भारत के कई हिस्सों में ऐसे गांव हैं जहाँ देश के दूसरे हिस्सों के शहरों या कस्बों की तुलना में बेहतर 'नागरिक सुविधायें' प्राप्त हैं। अनिरुद्ध कृष्णा का मानना है कि नाम चाहे कुछ भी दिया जाए मगर महानगरों, उपमहानगरों और प्रांतीय राजधानियों से पांच किलोमीटर के फासले में बसे भारत के विकास की समस्याएं शेष भारत के विकास की समस्याओं से जुड़ी होने पर भी बहुत फर्क रखती हैं। लेखक ने बहुत सरस और सटीक तरीके से यह दर्शाया है कि व्यक्ति चुम्बक की तरह इन शहरों और इलाकों की तरफ आकर्षित होता है, अपने भविष्य को संवारने के लिए। भारत जैसे जनतांत्रिक देश में आंतरिक आव्रजन को रोकना संभव नहीं और इसके दूरगामी परिणाम विकास की प्रक्रियां पर और जन कल्याणकारी नीतियों पर पड़ते हैं।

तीसरा अध्याय 'अप एण्ड डाउन् इन द सिटी', इस समस्या को उजागर करता है कि शहरी जीवन अपने आप में गरीबी से मुक्ति की गारण्टी नहीं। इसी नगर में रहने वाले लोगों के जीवन में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं और कभी खुशहाल मध्यवर्गीय समझा जाने वाला परिवार दुर्भाग्य से महंगाई और बेरोजगारी की चपेट में आ गरीबी की सीमारेखा के नीचे फिसल जाता है। इतना धीरे-धीरे कि किसी को पता भी नहीं चलता। यह भी संभव है कि आत्मसम्मान की रक्षा के लिए कोई व्यक्ति या परिवार अपने को गरीबी की सीमारेखा वाला स्वीकार ही ना करे और जीवनयापन के

लिए असामाजिक या आपराधिक आचरण का सहारा ले। जो व्यक्ति गांव छोड़कर शहर पहुंचते हैं उन सबकी भी समानरूप से सफल होने की संभावना कम होती है। बहुत सारी बातें यह तय करती हैं कि ऊपर चढ़ने, आगे बढ़ने के लिए जिस सीढ़ी का प्रयोग वह करते हैं, वह सलामत है अथवा टूटी, उसकी मरम्मत संभव है या नहीं। कई बार गांव से पहुंचा कोई व्यक्ति शहर में नया कौशल सीखकर अपनी रोजी-रोटी कमाने लगता है और किसी झोपड़ पट्टी में अपने ही जैसों के बीच घर बिरादरी वालों के साथ कमोबेश आगे बढ़ने का जुगाड़ करता है। पर यह जरूरी नहीं कि एक बार सीढ़ी चढ़ने के बाद वह उन लोगों की याद करे जिन्होंने उसकी सहायता सीढ़ी थामकर की थी। व्यक्तिगत तरक्की अनिवार्यतः पूरे परिवार की खुशहाली का भरोसा नहीं दिला सकती और भूमंडलीकरण का सांस्कृतिक दबाव परिवार की टूट के लिए काफी हद तक जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। सिक्के का दूसरा पहलू यह भी है कि पुराने उद्योगों में काम करने वाले मजदूर और कारीगर नये उद्योगों के प्रवेश और काम-काज के नये तरीकों को लागू किए जाने के बाद अचानक बेरोज़गार होते जा रहे हैं और सांप-सीढ़ी के खेल की तरह ऊपर चढ़ने, आगे बढ़ने के बदले गिरते-पिछड़ते जा रहे हैं।

अगले दो अध्यायों में लेखक का प्रयास इस बात का परीक्षण है कि भविष्य में गरीबी को फैलने से कैसे रोका जा सकता है? 'प्रिवे. डिग प्यूचर पावटी' वाला अध्याय इसी पर केन्द्रित है। अगले अध्याय में लेखक ने यह दर्शाया है कि भारत में प्रतिभा का अभाव नहीं और हमारा प्रतिभापुंज बहुत विपुल है। एक ऐसे अथाह जलाशय की तरह जिसमें आप जब चाहे डुबकी लगाकर अनमोल मा. ती पा सकते हैं। अपने व्यक्तिगत अनुभवों से जुटाए उदाहरणों का अच्छा उपयोग यहां किया गया है, पर यह सामग्री सिर्फ व्यक्तिगत अनुभव जनित किस्सों पर आधारित नहीं। लेखक ने अपने अध्ययन के दौरान अन्य अर्थशास्त्रियों के शोध का उपयोग भी किया है।

छठा अध्याय हमारा ध्यान उन चुनौतियों की ओर दिलाता है, जिनके सन्निपात के कारण इस प्रतिभा भण्डार का लाभ भारत उठाने से चूकता रहा है। इस अध्याय का शीर्षक है 'एटिट्यूड इक्सपीरियंसिस एण्ड इनफॉर्मेशन' अंग्रेजी के इन शब्दों में स्व. रों के कारण अनुप्रास अलंकार आकर्षित करता है। पर असलियत यह है कि ये तीनों शब्द अलग-अलग भी गरीबी से मुक्ति पाने की व्यक्तिगत या सरकारी-सामाजिक नीतियों का स्वरूप तय करते हैं। अपने स्वभाविक रूझान, अभिरूचि, मूल्यों, अनुभवों और उपलब्ध जानकारी के आधार पर ही कोई व्यक्ति अपनी जिंदगी के बारे में अहम फैसले लेता है। उसी जानकारी के आधार पर अपने रूझान के अनुसार या फर्क-अनुभव के कारण व्यक्ति या समूह अलग-अलग तरह के फैसले ले सकते हैं या लेते हैं। कई बार सरकारी नीतियां और महत्वाकांक्षी जन-कल्याणकारी अभियान इसलिए नाकामयाब रहते हैं, क्योंकि वह जनमानस की पूर्वाग्रहों और रूढ़ीवादी सांस्कृतिक बेड़ियों को नज़रदांज करते हैं। जातिगत पक्षधरता हो या साम्प्रदायिक हठधर्मिता, लिंगभेदी अन्याय हो या पितृ सत्तात्मक सामंती मानसिकता, इनके चलते किसी भी जानकारी का उपयोग-दुरुपयोग में बदल सकता है।

लेखक मूलतः आशावादी है और उसे लगता है कि हाल के दिनों में हर घर के दरवाजे पर जनतंत्र को पहुंचाने का सरकार का प्रयास काफी उत्साहवर्धक है। नागरिक की पहचान को सुनिश्चित करने वाला आधार कार्ड हो, लेंन-देन का विमुद्रीकरण या गरीब आदमी को दी जाने वाली सहायता का सीधे उसके जनधन खाते में स्थानांतरण, इन सब से निश्चय ही भ्रष्टाचार में कमी की आशा की जा सकती है। चुनाव के वक्त इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन का उपयोग हो या सूचना के अधि कार के बारे में जानकारी का प्रसारण इन सभी के सन्निपात से जनतंत्र को जन-जन के दरवाजे तक पहुंचाना संभव हुआ है।

अंतिम अध्याय का शीर्षक 'लुकिंग अहेड, ग्रॉइंग द इकोनॉमी एण्ड डेवल. पिंग इन्डीविजुअल्स।' लेखक की नज़र में देश की आर्थिक प्रगति और व्यक्ति का विकास एक दूसरे के साथ अभिन्न रूप से अनिवार्यतः जुड़ा है। इस बारे में दोराय नहीं हो सकती; मगर, फिर भी एक गुत्थी उलझी ही रह जाती है। जब तक आर्थिक विकास की दर तेज नहीं होती तबतक यह दावा करना ठीक नहीं कि हर व्यक्ति को उसके विकास का जायज और समु. चत अवसर मिलेगा। दूसरी ओर जब तक मानव संसाधनों का विकास नहीं होता, आबादी कुपोषित, अशिक्षित, अल्पशिक्षित या बीमार रहती है तब तक कैसे किसी भी तरह का आर्थिक विकास संभव है?

आर्थिक विकास के लिए सिर्फ आशावादित ही काफी नहीं राजनैतिक नेतृत्व का मनोबल और शासन का भ्रष्टाचार मुक्त रहना भी परमावश्यक है। अनिरूद्ध कृष्णा की इस पुस्तक में यदि कोई कमजोरी है तो सिर्फ यही कि वह इन चुनौतियों की गंभीरता को उस तरह की आशंका के साथ नहीं आंकते जिसकी जरूरत है। भूमंडलीकरण के सामाजिक-राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दबाव दुनिया के हर देश की आर्थिक नीतियों को आज प्रभावित कर रहे हैं। यह प्रक्रिया चौथाई सदी से अधिक समय से जारी है। कैसे व्यक्ति या समूह उदियमान प्रवृत्तियों का सामना करेंगे, कह पाना कठिन है। लेखक परीक्षण से अर्थशास्त्री है और शायद इसी कारण लोक नीति (पब्लिक पॉलसी) के क्षेत्र में पूर्वाग्रह कहिए या रूझान आर्थिक विकास की ओर है। सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष का विश्लेषण उतने अनुशासन के साथ नहीं किया गया है जिसकी दरकार थी। यह काम किसी समाजशास्त्री को या राजनीतिशास्त्री के विशेषज्ञ को ही करना होगा। बहरहाल पुस्तक सरस-सहज शैली में लिखी गई है और प्रतियोगी परीक्षाओं के छात्रों के लिए बहुत सारी जानकारी तर्कसंगत विश्लेषण के साथ एक ही जगह प्रस्तुत करती है।

□



डायलॉग ऑफ दि डैफ : द गवर्नमेंट एंड दि आरबीआई

लेखक: टी. सी. ए. राघवन

मणिकांत सिंह

जब से बड़ी राशि के नोटों का विमुद्रीकरण अचानक किया गया तभी से भारत सरकार और रिज़र्व बैंक के बीच के रिश्तों को लेकर बहस फिर से गरम हो गई है। कई विद्वानों का मानना है कि मुद्रा नीति का निर्धारण और नियंत्रण सरकार द्वारा तय लक्ष्यों के आधार पर रिज़र्व बैंक का एकाधिकार है। उनकी नज़र में केन्द्रीय बैंक एक स्वायत्त संस्था है, वित्त मंत्रालय का अधीनस्थ विभाग नहीं। जब प्रधानमंत्री मोदी ने देश की अर्थव्यवस्था में भूचाल लाने वाली विमुद्रीकरण की घोषणा की तो अधिकांश लोगों का मानना था कि उन्होंने अपने इस फैसले से रिज़र्व बैंक के गवर्नर और वित्तमंत्री तक को अंतिम क्षण तक बेखबर रखा था। इस बारे में अधिक विस्तार से यहां किसी विश्लेषण की आवश्यकता नहीं पर शायद इस ओर ध्यान दिलाना परमावश्यक है कि इस सरकार के साथ रिज़र्व बैंक संबंध पहले से ही तनावपूर्ण चलते रहे हैं। मनमोहन सिंह और यूपीए-1 के कार्यकाल में रघुराम राजन अपना काम बखूबी कर रहे थे और उन्होंने कभी भी मनमोहन सिंह जैसे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री को अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया और रिज़र्व बैंक की स्वायत्ता की रक्षा करने में समर्थ रहे। बैंको को अनुशासित करने में चाहे वह निजी क्षेत्र के हो या सार्वजनिक क्षेत्र के, उन्होंने बिना पक्षपात के अनुशासित करने का प्रयास किया। पर जैसे ही 2014 में नई सरकार ने पदग्रहण किया रघुराम राजन के साथ तनातनी शुरू

हो गई। गवर्नर के रूप में रघुराम राजन का मानना था कि उनका काम मुद्रा स्फीति और महंगाई को रोकना है। जब तक इसे प्राथमिकता दी जानी है तब तक बैंकों को रिज़र्व बैंक द्वारा दिए जाने वाले ऋण की ब्याजदर कम करने की सरकार की सलाह न मानने का अधिकार होना चाहिए। दूसरी तरफ केन्द्र सरकार का उतावलापन इस लिए था कि नई सरकार की कामयाबी को प्रमाणित करने के लिए विकासदर में वृद्धि की जाए और उद्यमिता को प्रोत्साहित करने के लिए बैंको को थोड़ा जोखिम उठाकर भी उदार लचीली नीतियां अपनानी चाहिए। काफी देर तक यह अटकलबाजी चलती रही कि क्या रघुराम राजन को गवर्नर के रूप में दूसरा कार्यकाल दिया जाएगा या नहीं? यहां यह उल्लेखनीय है कि रघुराम राजन रिज़र्व बैंक का गवर्नर नियुक्त किए जाने के पहले भारत सरकार के प्रमुख आर्थिक सलाहकार के पद पर काम कर चुके थे। उनके पहले यह जिम्मेदारी कौशिक बसु निभा रहे थे। कौशिक बसु की ही तरह रघुराम राजन भी अमेरिका की एक मशहूर यूनिवर्सिटी में अर्थशास्त्री के सम्मानित प्रोफेसर हैं। यहां इस बात को याद दिलाने की जरूरत है कि भारत के रिज़र्व बैंक के गवर्नर का पद चाहे कितना ही महिम-मंडित और प्रभावशाली क्यों ना हो, वेतनमान और सेवा-सुविधाओं की दृष्टि से अमेरिका की बड़ी यूनिवर्सिटी के बड़े प्रोफेसरों को मिलने वाले वेतन या सम्मान का मुकाबला नहीं कर सकते। अतः रघुराम राजन वापस अमेरिका चले गए और

थोड़ी प्रतीक्षा के बाद रिज़र्व बैंक में डिप्टी गवर्नर के रूप में काम कर रहे उर्जित पटेल को इस पद पर नियुक्त किया गया। तब से अबतक रिज़र्व बैंक की स्वाधीनता और महत्व के बारे में विभिन्न विचार व्यक्त किए जाते रहे हैं। मुद्रा नीति और वित्तीय प्रबंधन जटिल विषय है और इनके साथ जुड़े विषयों को समझना-समझाना आसान नहीं होता। इसीलिए टी.सी.ए. श्रीनिवास राघवन की यह पुस्तक आम पाठक के लिए बेहद उपयोगी सिद्ध होगी।

लेखक संपादक और पत्रकार के रूप में काम कर चुके हैं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वर्ष 2004 से 2011 के बीच वह सलाहकार के रूप में रिज़र्व बैंक का प्रमाणिक इतिहास लिखने

T. C. A. SRINIVASA RAGHAVAN

DIALOGUE OF THE DEAF



THE GOVERNMENT
AND THE RBI

वाली टोली के सदस्य रहे। इस दौरान उन्हें बहुत सारी ऐसी जानकारी हासिल हुई जिसने उन्हें रिज़र्व बैंक की कार्यशैली के बारे में दुर्लभ अन्तरदृष्टि प्रदान की।

लेखक ने इस पुस्तक को आठ अध्यायों में बाँटा है जिनके अंत में दो परिशिष्ट जोड़े गए हैं। इनमें पहला परिशिष्ट शायद हर पाठक द्वारा सबसे पहले पढ़ा जाना चाहिए। इसका शीर्षक है, 'केन्द्रीय बैंक क्या करते हैं?' जिन पाठकों ने अर्थशास्त्र नहीं पढ़ा है, उनको यह कुछ दुरूह लग सकता है, परन्तु इस जानकारी के बिना यह समझना कठिन होगा कि आखिर क्यों किसी भी देश की सरकार और केन्द्रीय बैंक में एक रस्साकशी निरंतर चलती रहती है।

पहले अध्याय में एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है जिसमें संक्षेप में 20 वीं सदी के आरंभ तक खासकर इंग्लैण्ड की पृष्ठभूमि में केन्द्रीय बैंक के विकास की रूप रेखा का सर्वेक्षण किया गया है। इसी अध्याय में भारत में केन्द्रीय बैंक (रिज़र्व बैंक) की स्थापना का वर्णन और विश्लेषण भी शामिल है। यह बात याद रखने की जरूरत है कि औपनिवेशिक काल में पूरा भारत सीधे अंग्रेजों के आधिपत्य में नहीं था। भारत का बड़ा भू-भाग और आबादी का बड़ा हिस्सा रियासतों और रजवाड़ों के आधीन था। यह सभी राजा-रजवाड़े अंग्रेजों की प्रभुता तो स्वीकार करते थे तथा विदेश नीति और रक्षा नीति को छोड़ अन्य सभी मामलों में अपने हित में फैसले लेने को स्वाधीन थे। इसी कारण अखिल भारतीय वित्तीय नीति या मुद्रा प्रबंधन की बात निरर्थक थी। 1920 के दशक में डॉ.बी.आर. अम्बेडकर ने अपने एक शोध प्रबंध में भारत में रुपये के बारे में विस्तार से विश्लेषण किया था और केन्द्रीय बैंक की अहमियत समझाई थी। कुछ लोगों का मानना है कि इसी से प्रेरित अंग्रेज सरकार ने भारत में रिज़र्व बैंक की स्थापना की। अम्बेडकर को यह श्रेय देने में अतिरंजना का पुट लगता है क्योंकि प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जॉन मीनर्ड कीन्स काफी समय पहले से केन्द्रीय बैंक की सहायता से वित्तीय प्रबंधन और मुद्रा नीति को व्यवस्थित करने की हिमायत

करते रहे थे। कीन्स के सुझावों के अनुसार ही सन् 1920 में इम्पीरियल बैंक एक्ट पास किया गया था। सितम्बर 1930 में भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार से यह अनुरोध किया कि यदि भारतीयों को वित्तीय शासन की जिम्मेदारी सौंपी जानी है तो इसके लिए पहले एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना करनी होगी। इस काम के लिए सिफारिशें देने के लिए नियुक्त आयोग की रिपोर्ट के बाद 1933 में वायसरॉय की कार्डिनल में इस आशय का प्रस्ताव पेश किया गया जो दि. सम्बर में इसी वर्ष पारित किया गया। रिज़र्व बैंक की स्वायत्ता इसलिए परमावश्यक समझी गई ताकि भारतीय राजनेता इसके साथ छेड़छाड़ न कर सकें। आज यह बात बड़ी दिलचस्प लगती है कि स्थापना के वक्त रिज़र्व बैंक के पास कुल पांच करोड़ रूपयों की पूंजी थी। अगले चार वर्षों में द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट तक रिज़र्व बैंक का मुख्य कार्य मुद्रा विनिमय दर तय करना था। इसके निदेशक मंडल में अनेक बड़े भारतीय उद्योगपति थे, लेकिन महत्वपूर्ण निर्णय अंग्रेज गवर्नर द्वारा ही लिए जाते रहे। 1943 में तत्कालीन गवर्नर की अचानक मृत्यु के बाद आई.सी.एस. अफसर सी. डी. देशमुख रिज़र्व बैंक के पहले भारतीय गवर्नर नियुक्त हुए। उन्हें 1938 में सरकार और रिज़र्व बैंक के बीच तालमेल बैठाने के लिए रिज़र्व बैंक भेजा गया था और दो वर्ष बाद डिप्टी गवर्नर के रूप में पदोन्नत कर दिया गया। देशमुख रिज़र्व बैंक की स्वाधीनता की रक्षा करने में हमेशा सतर्क रहे और कभी भी अंग्रेजों के दबाव में झुके नहीं। 1945 में महायुद्ध की समाप्ति के बाद भारत ही नहीं पूरा विश्व आर्थिक मंदी के दौर से गुजर रहा था। आजादी के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच परिसंपत्तियों के विभाजन और पुनर्वितरण के लिए भी रिज़र्व बैंक के सामने कठिन चुनौतियां पैदा हुईं। इन सबका सामना देशमुख ने कौशल से किया था।

दूसरे अध्याय का एक महत्वपूर्ण योगदान यह है कि वह शुरू में ही पाठक को यह समझने का मौका देता है कि मुगलकालीन भारत की अर्थव्यवस्था और औपनिवेशिक राज में अंग्रेजों की अर्थव्यवस्था से भारत

कैसे प्रभावित हुआ और इन दोनों में क्या अन्तर था? यह साफ है कि मुगल सम्राट और अंग्रेज दोनों ही मानक मुद्रा और विनिमय दर स्थापित करने में लगे थे। दोनों के बीच बुनियादी अंतर यह था कि मुगल अर्थव्यवस्था सिर्फ लगान वसूलने की व्यवस्था तक सीमित थी, जबकि ब्रितानवी शासन का उद्देश्य इसके साथ-साथ अंग्रेजों का मुनाफा बढ़ाना भी रहता था। बहुत संक्षेप में ही सही लेखक ने इस बात पर रोशनी डाली है कि कैसे इंग्लैण्ड में तय मुद्रा विनिमय दर को भारत में लागू करना तर्कसंगत नहीं था? एक तरह से भारतीय आर्थिक राष्ट्रवाद और रिज़र्व बैंक की स्थापना का मुद्दा साथ-साथ गतिशील होता रहा।

1930 के दशक के अंत तक द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट के पहले ही पाकिस्तान की समस्या सर उठाने लगी थी। अल्पसंख्यक मुसलमानों के हितों के संरक्षण की मांग करने वाले यह मुद्दा उठाने लगे थे कि रिज़र्व बैंक के प्रबंधक मंडल में उप-गवर्नर का एक पद मुसलमानों के लिए आरक्षित होना चाहिए।

पुस्तक के तीसरे अध्याय में भारत की आजादी के बाद रिज़र्व बैंक की भूमिका का बेहद दिलचस्प और विचारोत्तेजक वर्णन किया गया है। अंतरिम सरकार के मंत्री मंडल में षण्मुखम चेट्टी ने वित्तमंत्री का पद ग्रहण किया। आज तक यह बात कोई समझ नहीं पाया कि नेहरू ने किस आधार पर और इस व्यापारी की किस योग्यता को देखकर यह जिम्मेदारी सौंपी? अबतक इस पद पर लियाकत अली खान काम कर रहे थे और प्रधानमंत्री के रूप में उनके पाकिस्तान जाने से यह पद खाली हुआ था। कुछ समय बाद भ्रष्टाचार के संदेह मात्र से नेहरू ने उन्हें मंत्रिमंडल से बाहर कर दिया। जॉन मथई नये वित्तमंत्री बने। मथई का मानना था कि भारतीय आर्थिक समस्याओं की जड़ों में मुद्रास्फीति और विदेशी मुद्रा का संकट है। पर स्वयं वह इन दोनों समस्याओं पर काबू पाने में असमर्थ रहे। अबतक समाजवाद का संक्रमण सरकार में नहीं हुआ था। पर जब नेहरू ने योजना आयोग के गठन की घोषणा की तो मथई ने अपनी असहमति प्रकट करते हुए इस्तीफा दे दिया। भले

ही अपने बजट भाषण में मथई ने संविधान की अनेक धाराओं का उल्लेख किया था जिनमें समतापूर्ण समाज की स्थापना के लिए आर्थिक नीतियों को लागू करने की बात कही गई थी। पर जाहिर है कि समाजवादी आर्थिक विकास एवं योजना आयोग जैसे उपकरण को वह स्वीकार नहीं कर सकते थे।

मथई का स्थान तत्कालिक रिजर्व बैंक के गवर्नर सी.डी.देशमुख ने लिया, जिन्होंने लगातार 6 वर्ष तक वित्तमंत्री के रूप में बजट प्रस्तुत किया। इस पूरे कार्यकाल में वित्त मंत्रालय अर्थात् केन्द्र सरकार और केन्द्रीय बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक के संबंधों में कोई विशेष तनाव या टकराव का मौका नहीं आया। इसके दो कारण थे। एक तो स्वयं रिजर्व बैंक के गवर्नर रह चुके सी.डी. देशमुख उस संस्था की स्वायत्ता की उपयोगिता समझते थे और दूसरे इन वर्षों में सौभाग्यवश भारत की आर्थिक विकासदर तेज रह सकी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कई चीजों के दामों में गिरावट आई और विदेशी मुद्रा के संकट के बावजूद भारत की औद्योगिक विकासदर तेज रही। तत्कालीन वाणिज्यमंत्री टी.टी कृष्णमचारी नेहरू को यह समझाने में सफल रहे थे कि कम से कम शुरू के दौर में विदेश से आयात किए बिना उद्योगों को बढ़ावा नहीं दिया जा सकता। इसी कारण निजी क्षेत्र के उद्यमी कमोबेश बिना किसी सख्त अंकुश के नियंत्रण के ही उन क्षेत्रों में पहल कर सके, जो अबतक अंग्रेजों के ही प्रभुत्व में थे।

1950 के दशक के मध्य में अचानक एक अप्रत्याशित नाटकीय परिवर्तन सामने आया। भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के मुद्दे पर नेहरू से मतभेद के कारण वित्तमंत्री देशमुख ने केन्द्रीय मंत्रिमंडल से स्तीफा दे दिया। केन्द्र सरकार और केन्द्रीय बैंक के बीच में ताल मेल समाप्त हो गया। देशमुख का स्थान टी.टी. कृष्णमचारी ने लिया। लगभग इसी समय कांग्रेस पार्टी ने अपने अवादी अधिवेशन में समाजवाद विषयक प्रस्ताव पारित किया। इसके बाद नियंत्रित-मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला दौर शुरू हुआ। जिसमें आर्थिक विकास संबंधी

सभी निर्णायक महत्व की गतिविधियों और उद्योगों पर केन्द्र सरकार का ही नियंत्रण रह सकता था। अभी यह स्थिति अस्थिर ही थी कि भ्रष्टाचार के एक पर्दाफाश के कारण टी.टी कृष्णमचारी को अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा। 1958 का बजट प्रधानमंत्री नेहरू ने खुद पेश किया। कुछ समय बाद इस पद पर अनुभवी प्रशासक और वरिष्ठ नेता मोरारजी देसाई नियुक्त हुए। मोरारजी देसाई ने कमोबेश टी.टी. कृष्णमचारी के ही पथ का अनुसरण किया और चूंकि वह नियमानुसार काम-काज को प्राथमिकता देते थे उनके कार्यकाल में भी सरकार और रिजर्व बैंक के संबंध तनावरहित थे।

आज पीछे पलटकर देखने पर ऐसा लगता है कि चाहे सी.डी. देशमुख हो या मोरारजी देसाई इनके वित्तमंत्री के रूप में काम करते वक्त वित्त मंत्रालय या रिजर्व बैंक की उपलब्धियां विशेष रूप से उल्लेखनीय नहीं कही जा सकती। चूंकि भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान जिस खस्ता हाल आधार से विकास कार्यक्रम लागू करना आरंभ किया था उसके मद्देनजर प्रारंभिक वर्षों में तेज विकासदर दर्ज कराना आश्चर्यजनक नहीं था। रिजर्व बैंक के जिम्मे जो काम सौंपा गया वह रूटीन (रस्मादायगी) औपचारिक कर्तव्य पालन तक ही सीमित था। असली अड़चने 1950 के दशक के अंत तक ही प्रकट हुईं।

इस समय तक भारत-चीन सीमा विवाद गंभीर रूप लेने लगा था और सैनिक तैयारी पर होने वाला खर्च तेजी से बढ़ रहा था। पंचवर्षीय योजनाओं की रफ्तार शिथिल होने लगी थी। तत्कालीन वित्त मंत्री और रिजर्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर के बीच कई छिटपुट बातें मतभेदों का रूप लेती रहीं। नेहरू भले ही सार्वजनिक रूप से यह कहते रहे कि रिजर्व बैंक को एक स्वायत्त संस्था के रूप में ही काम करते रहना चाहिए। पर जब कभी कृष्णमचारी और रिजर्व बैंक के गवर्नर बेनेगल रामाराव के बीच मुठभेड़ होती तो वह वित्तमंत्री का ही साथ देते रहे। एक बार जब खिन्न होकर रामाराव ने इस्तीफा दे दिया तो नेहरू और पंडित पंत ने समझा बुझाकर उन्हें इस्तीफा वापस लेने को राजी कर दिया पर वित्तमंत्री

कृष्णमचारी का आक्रामक दबंग रवैया बना रहा और बेनेगल राव ने पद त्याग कर दिया।

राव के उत्तराधिकारी सर एच.वी.आर. अयंगर थे जिनके सामने यह बात स्पष्ट थी कि वित्त मंत्रालय रिजर्व बैंक को अपना अधीनस्थ विभाग ही समझता है। इस समय वित्त मंत्रालय में संयुक्त सचिव के रूप में प्रधानमंत्री के चचेरे भाई आई.सी.एस अफसर बीके नेहरू काम कर रहे थे। जो अनौपचारिक मैत्रीपूर्ण संबंधों से बहुत सारे सरकारी काम आसानी से करवा लेते थे। इसी कारण रिजर्व बैंक की स्वाधीनता का भ्रम बरकरार रह सका।

इन सब बातों का जरा विस्तार से वर्णन करना यहां इसलिए जरूरी है कि यह बात अच्छी तरह समझी जा सके कि रिजर्व बैंक के गवर्नर और केन्द्र सरकार अर्थात् वित्त मंत्रालय के अधिकारियों के बीच बदलते शक्ति संगठनों के अनुसार संघर्ष में उतार-चढ़ाव कोई नई बात नहीं। रिजर्व बैंक के गवर्नर की योग्यता उसका कद और उसकी छवि एक सीमा तक ही संस्था की स्वायत्ता की रक्षा कर सकते हैं। अतः यह सोचना की रघुराम राजन और वित्तमंत्री जेटली के बीच मतभेद अभूतपूर्व है, तर्कसंगत नहीं।

रिजर्व बैंक की भूमिका में आमूलचूल परिवर्तन श्रीमती इंदिरा गांधी के कार्यकाल में हुआ। पुरानी कांग्रेस को तोड़ नई कांग्रेस की कमान संभालने वाली श्रीमती गांधी ने अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए लोक लुभावन नारों का सहारा लिया और बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने का एलान किया। इसी दौरान नेहरू की मृत्यु के बाद भारत को पाकिस्तान के साथ एक युद्ध लड़ना पड़ा और विदेशी मुद्रा का संकट और भी विकट हो गया। बैंकों का राष्ट्रीयकरण एक अध्यादेश के द्वारा किया गया जिसे तत्काल सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई। इसका प्रभाव रिजर्व बैंक पर पड़ना स्वाभाविक था। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के समय श्रीमती गांधी ने रिजर्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर एल.के. झा को दिल्ली बुलाया मगर उनसे सलाह मशवरे की कोई जरूरत नहीं समझी। दिल्ली पहुंचते ही उन्हें बैंकों का राष्ट्रीयकरण विषयक मसौदा बनाने के काम में लगा दिया गया।

1977 में सर्वोच्च न्यायालय की एक पीठ ने 6 बनाम 1 जज के बहुमत से बैंक राष्ट्रीयकरण को खारिज कर दिया। जिस दिन अदालत का फैसला आया उसी दिन वित्त मंत्रालय के बैंकिंग विभाग ने रिजर्व बैंक को यह निर्देश दिया कि बैंक नियमन एक्ट के तहत उन सभी बैंकों में निदेशक नियुक्त किये जाएं जिनका राष्ट्रीयकरण रद्द किया गया था। रिजर्व बैंक ने इस सलाह का पालन करने में जरा भी देर नहीं लगाई। यह घड़ी रिजर्व बैंक के लिए सबसे शर्मनाक कही जा सकती है।

यहां इस बात को रेखांकित करने की जरूरत है कि भले ही सर्वोच्च न्यायालय ने बैंक राष्ट्रीयकरण निरस्त कर दिया भारत की जनता ने बड़े पैमाने पर इस फैसले का स्वागत किया। 1970 के दशक तक हिन्दुस्तान की आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा बैंकिंग प्रणाली में शामिल था या बैंकों से ऋण ले सकता था। बैंकों के राष्ट्रीयकरण को श्रीमती गांधी ने समतावादी समाज के सपने के साथ जोड़ने में कामयाबी हासिल की। राष्ट्रीयकृत बैंकों को यह निर्देश दिए गए कि वह देहाती इलाके में शाखाएं खोले और छोटे उद्यमियों, किसानों आदि को ऋण देने को प्राथमिकता दें। 1970 के दशक में प्रणव मुखर्जी की सलाह पर के. आर. पुरी को रिजर्व बैंक का गवर्नर सिर्फ इसीलिए तैनात किया गया कि वह केन्द्र सरकार की इच्छानुसार केन्द्रीय बैंक का संचालन करें।

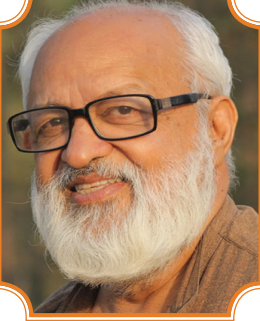
आपातकाल के बाद श्रीमती गांधी को चुनावी हार का मुंह देखना पड़ा पर दो वर्ष पूरा होने के पहले ही वह वापस सत्ता में आ गई। छोटे से अन्तराल में जब केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार काम कर रही थी; रिजर्व बैंक के गवर्नर के रूप में आई.जी. पटेल काम कर रहे थे। वह श्रीमती गांधी के सलाहकार रह चुके थे और सम्मानित अर्थशास्त्री भी। इसके बावजूद जब केन्द्र सरकार ने सोने की नीलामी का फैसला लिया तो उन्होंने इसका कड़ाई से विरोध नहीं किया। बाद में अपने संस्मरणों में उन्होंने अपनी कमजोरी पर लीपा-पोती का प्रयास किया है। जब श्रीमती गांधी लौटकर आईं तो आई.जी. पटेल को खामियाजा भुगतना पड़ा।

पुस्तक के पहले पांच अध्यायों में बहुत दिलचस्प तरीके से लेखक ने आजादी के बाद से श्रीमती गांधी के कार्यकाल के अंत तक भारत की राजनैतिक अर्थव्यवस्था (पॉलिटिकल इकॉनोमी) का सार-संक्षेप प्रस्तुत किया है। सार्वजनिक नीति निर्धारण और वित्तीय प्रबंधन मुद्रानीति जैसे विषय विशेषज्ञता की दरकार करते हैं और निश्चय ही राजनैतिक विचारधारा से भी प्रभावित होते हैं। सी.डी.देशमुख से लेकर आई.जी. पटेल और जगन्नाथन तक रिजर्व बैंक और वित्त मंत्रालय के रिश्ते इसी तथ्य को प्रतिबिंबित करते हैं। यहां तक पहुंचते-पहुंचते यह बात समझ आने लगती है कि क्यों इस पुस्तक का शीर्षक डायलॉग ऑफ दि डैफ रखा गया है। जिस तरह दो बहरे दूसरे की बात सुनने में असमर्थ होकर अपनी बात दोहराते रहते हैं वैसे ही कुछ बातचीत वित्त मंत्रालय और रिजर्व बैंक के बीच भी होती रही है। केन्द्र सरकार के झुकाव या रूझान के अनुसार आर्थिक नीतियां क्रमशः समाजवाद से विमुख होकर दक्षिणपंथी होती रही है। 1980 के दशक से ही इन्टरनेशनल मॉनट्री फंड (आई.एम.एफ.) और विश्व बैंक का दबाव भारत सरकार पर बढ़ता रहा है। जैसे-जैसे आर्थिक विकास के लिए भारत विदेशी सहायता पर निर्भर होता रहा है वैसे-वैसे आर्थिक नीति निर्धारण की उसकी स्वाधीनता संकुचित होती रही है। हालांकि, बीच-बीच में ऐसा लगता रहा है कि रिजर्व बैंक अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन अपनी स्वाधीनता और केन्द्र सरकार की इच्छाओं को संतुलित करते रहने में समर्थ हुआ है। डॉ. मनमोहन सिंह और डॉ. रंगराजन का कार्यकाल इसी का उदाहरण समझा जा सकता है।

पुस्तक के लेखक का मानना है कि 1980 के दशक में रिजर्व बैंक को तीन असहिष्णु और कुतर्क की सरकारों के साथ काम करना पड़ा था। जिन्होंने उसके पंख कतरने में कोई कसर नहीं छोड़ी। आज सी.बी.आई. को पिंजरे में तोता कहा जाता है; लेखक ने एक अध्याय का उपशीर्षक कुछ ऐसा ही रखा है कि पिंजरे में बंद पंछी उड़ नहीं सकते। सरकार की हठधर्मिता के कारण पूरी बैंकिंग प्रणाली लगभग

सुनियोजित ढंग से नष्ट कर दी गई। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में काम करने वाले अर्थशास्त्री विजय जोशी के अनुसार राजीव गांधी के कार्यकाल में प्रधानमंत्री के पसंदीदा तुनक मिजाज नौकरशाहों के हस्तक्षेप ने रिजर्व बैंक को बधिया बना दिया। लेखक इस बात को स्वीकार करता है कि भले ही ऐसे लोग प्रतिभाशाली और व्यक्तिगत रूप से ईमानदार रहे हों लेकिन ऊपर से मिले आदेशों का आंख मूंदकर पालन करने या अपने को सर्वज्ञ समझने की गलतफहमी का नुकसान राष्ट्रहित को हुआ है। ऐसे अधिकारियों में लेखक गोपी अरोड़ा और विमल जालान का नाम गिनाता है।

अंतिम दो अध्यायों में पिछले दशक में कार्यरत रिजर्व बैंक के गवर्नरों के काम-काज का बहुत संक्षेप में वर्णन किया गया है। यह संक्षेप काफी खटकता है पर शायद इसलिए जरूरी था कि लेखक की समझ में जहां रिजर्व बैंक के इतिहास से अधिकांश पाठक अनजान हैं वही हाल के वित्तीय घपले-घोटाले समाचार पत्रों की सुर्खियों में रहे हैं और इनकी थोड़ी बहुत जानकारी सभी को है। हर्षद मेहता का शेयर बाजार वाला घोटाला हो, यूटीआई का भ्रष्टाचार अथवा पैरा बैंकिंग कंपनियों का गैर जिम्मेदार रवैया यह सब रिजर्व बैंक की लापरवाही या लाचारी से ही संभव हुए हैं। लेखक रिजर्व बैंक के अपने अधिकारियों से पदोन्नत वाई.वाई.रेड्डी जैसे गवर्नरों को अच्छे काम का श्रेय देता है पर इस बात की अनदेखी नहीं करता कि उनकी उपलब्धियां अनुकूल वातावरण या अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिवेश के कारण अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में सहज रही हैं। सुब्बाराव हो या रेड्डी दोनों ही आन्धा काडर के आई.ए.एस.अधिकारी थे और अर्थशास्त्र में पी.एच.डी. भी। रिजर्व बैंक का गवर्नर बनने के पहले दोनों ही वित्त मंत्रालय में काम कर चुके थे। शायद इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के भीषण भँवर में फंसने से यह भारत को बचा सके। पर अतिसंक्षेप के कारण पाठक के लिए यह तय करना कठिन है कि इनकी यह उपलब्धि और रिजर्व बैंक की सफलता इनके पुरुषार्थ के कारण थी अथवा संयोगवश? कुल मिलाकर यह पुस्तक पठनीय और उपयोगी है। □



चाइनाज इकॉनोमी : वॉट एवरीवन नीड्स टू नॉ

लेखक : आर्थर आर. क्रोबर

प्रो. पुष्पेश पंत

आर्थर आर. क्रोबर एक मशहूर अमेरिकी थिंक टैंक में काम करते हैं, जिसका नाम है, 'गवेल्ल ड्रैगनो मिक्स' और प्रमुख काम चीनी अर्थव्यवस्था पर नजर रखना है। वह ब्रूकिंग्स संस्थान में सिंगुवा सेन्टर के सीनियर फैलो हैं और चाइना इकॉनॉमिक के संपादक। उनकी यह नई पुस्तक काफी चर्चित रही है और प्रशंसित भी।

चीन के बारे में अक्सर यह कहा जाता रहा है कि वह एक रहस्य में लिपटी हुई अनबुझ पहली है, एक ऐसा तिलिस्म जिसे कोई भेद नहीं सकता। अक्सर यह उक्ति नेपोलियन के नाम दर्ज की जाती है 'यथार्थ' चाहे कुछ भी हो अधिकांश विद्वान चीनी विश्लेषकों समेत स्वीकार करते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि चीनी भाषा बेहद कठिन है और अक्षरों में नहीं चित्रात्मक लिपि में लिखी-पढ़ी जाती है, साथ ही उच्चारण की समस्या भी जुड़ी है। चीन से संबंधित जानकारी और आंकड़ों को प्राप्त करना ही कठिन नहीं, उनका सही-सही अनुवाद करना भी कम बड़ी चुनौती नहीं। चीनी हजारों साल पुरानी एक संस्कृति के वारिस हैं, पर वह कभी भी बहुलमुखी नहीं रहे और बहुत विशाल साम्राज्य स्थापित करने के बाद भी अपने को बाहरी दुनिया से अलग-थलग रखने के लिए कसर कस रहे हैं। चीन की महान दीवार आक्रमणकारियों के अलावा बाहर से

पहुंचने वाले ऐसे विचारों के लिए भी एक विकट बाधा के रूप में खड़ी की गई जो चीन की आंतरिक शांति, सुव्यवस्था, सामाजिक स्थिरता और सामंजस्य के लिए खतरा बन सकते थे। आगे बढ़ने से पहले एक और बात को रेखांकित करना परमावश्यक है कि चीन दुनिया का सबसे बड़ी आबादी वाला देश है और इसके साथ ही उसके जीवन मूल्य खासकर पश्चिमी दुनिया के जीवन मूल्यों से बिल्कुल भिन्न है। ईसा के जन्म से छः शताब्दी पूर्व चीनी दार्शनिक कनफ्यूशियस ने यह स्थापना की थी कि व्यक्ति का जीवन परिवार के लिए, परिवार का गांव के लिए, गांव का जिले व प्रांत के लिए तथा जिले और प्रांत का साम्राज्य के लिए समर्पित होना चाहिए और इसी समष्टि में ही व्यक्ति का कल्याण है।

हजारों वर्षों के उतार-चढ़ाव के बावजूद इस चीनी सोच में कोई अंतर नहीं पड़ा है और यह सुझाना तर्क संगत है कि माओ के नेतृत्व में साम्यवाद का इतना व्यापक प्रसार कैसे संभव हुआ। एक-दो और बातों की ओर ध्यान दिलाना भी जरूरी है कि चीन की विशाल जनसंख्या पारंपरिक रूप से अपने जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर निर्भर रही है और अभावग्रस्त जीवन यापन की आदी भी। प्राकृतिक आपदाएं बाढ़, अकाल, भूकंप और तूफान आदि इसके अभिन्न अंग रहे हैं। 19 वीं सदी के मध्य से 20 वीं सदी

के अंत तक चीन गृहयुद्ध और विदेशी आक्रमणों एवं क्रांतिकारी छापेमारी को झेलता हुआ बड़े पैमाने पर हिंसा और रक्तपात का भी अनुभव आत्मसात कर चुका है। इन सब बातों को चीन का अध्ययन करने वाले जानते हैं। उनके लिए सबसे बड़े कौतुहल का विषय यही है कि कैसे इन सब के बावजूद पिछले दो-तीन दशकों में चीन संसार की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बनकर उभर चुका है और जितनी तेजी से विकास कर रहा है, उसे देखकर लगता है कि वह बहुत शीघ्र दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बन जाएगा।



CHINA'S ECONOMY

WHAT EVERYONE NEEDS TO KNOW

ARTHUR R. KROEBER

भारत में चीन को लेकर जो अटकल बाजी लगातार जारी रहती है, उसके केन्द्र में चीनी अर्थव्यवस्था ही नज़र आती है। आजादी के ठीक बाद के वर्षों में हिन्दी-चीनी भाई-भाई वाले सुखद दोस्ताना दौर के बाद हिमालयी सीमा को लेकर भारत और चीन के बीच एक सैनिक मुठभेड़ हुई जिसके बाद भारत और चीन के संबंध शत्रुवत रहे। 1962 के सीमायुद्ध में न केवल भारत की करारी हार हुई, बल्कि वह राजनयिक मंच पर भी बिल्कुल अकेला पड़ गया और भारत के लिए चीन की चुनौती अत्यंत संवेदनशील और सामरिक आयाम तक ही सीमित समझी जाने लगी। चीन और पाकिस्तान का गठबंधन भारत के खिलाफ एशिया में मोर्चाबंदी का प्रयास था और भारत को उसके पड़ोसियों से अलग करने के लिए नेपाल, बांग्लादेश, श्रीलंका में भी चीन ने भारत विरोधी गतिविधियाँ और दुष्प्रचार तेज कर दिया। 1976 में भारत और चीन के बीच राजनयिक संबंध सामान्य होने लगे और उसके बाद से छिटपुट मुठभेड़ों के बावजूद दोनों देशों के बीच आर्थिक और सांस्कृतिक संबंध दृढ़ होते रहे हैं। आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संबंध में चीन भारत का नंबर 1 साझेदार है और बहुतों को यह बात अटपटी लगती है कि कैसे तेल या परिष्कृत टेक्नोलॉजी का चीन से आयात किए बिना भारत उसके उत्पादों का खरीददार बन गया है और क्यों उसने अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को इतना बुरी तरह असंतुलित होने दिया है।

आजादी से आजतक भारत और चीन के बीच खासकर एक प्रतिस्पर्धा आर्थिक जीवन में जारी रही है। भारत एक जनतांत्रिक देश है और चीन का नवोदय एक साम्यवादी तानाशाही के रूप में हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री लगभग आधी सदी तक इसी चिंतन में व्यस्त रहे हैं कि तेज आर्थिक विकास के लिए कौन-सा विकल्प बेहतर है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के छात्र इस बहस को गांधी बनाम माओ का नाम भी देते थे। 1990 के दशक से यह बहस बेमानी लगने लगी है, क्योंकि भूमंडलीकरण के सूत्रपात

के बाद भारत ने आर्थिक उदारीकरण का रास्ता अपनाया जो कमोबेश चीन के आर्थिक उदारीकरण का जरा देरी से अनुसरण जान पड़ता है तथा नेहरूयुगीन समाजवादी सोच से मुक्ति पाकर निजीकरण और विनिवेश का मार्ग चुना गया। यहां यह जोड़ने की जरूरत है कि भले ही चीन ने दैनसाऊ पिंग के नेतृत्व में साम्यवादी व्यवस्था को क्रमशः त्यागकर पूंजीवादी उत्पादन को अधिक कार्यकुशल स्वीकार तो किया पर इसके बावजूद राजनीति में किसी भी तरह का जनतांत्रिकरण आरंभ नहीं हुआ। यह बात याद रखने लायक है कि चीन की चमत्कारी आर्थिक सफलता, 'एक राज्य और दो व्यवस्थाओं वाले प्रयोग पर टिकी हुई है।' सख्त राजनैतिक नियंत्रण और चुनिंदा जगहों पर विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना (स्पेशल इकोनॉमिक जोन) से यह काम संपन्न किया जा रहा है। जहां तक बाहरी दुनिया का प्रश्न है, अमेरिका समेत शायद ही आज कोई ऐसा देश हो जिसकी खुशहाली और राजनैतिक सुख-शांति चीन की अर्थव्यवस्था के उतार-चढ़ाव से जुड़ी ना हो। संसार में ऊर्जा और खाद्य संसाधनों का सबसे बड़ा ग्राहक चीन ही है और निकट भविष्य में इस स्थिति में कोई पारिवर्तन होने वाला नहीं। रूस हो या मध्यपूर्व अथवा दक्षिण-पूर्व एशिया के तेल-गैस उत्पादक देश उसके निशाने पर हैं। कार्बन जनित ईंधन पर निर्भर चीनी अर्थव्यवस्था के विकास का एक नतीजा वायुमंडल में बढ़ा हुआ कार्बन प्रसरण है जिसके कारण मौसम बदलाव व पूरे विश्व के लिए प्राकृतिक आपदा जनित संकट ने विकराल रूप ले लिया है।

यह जरा लंबी भूमिका इसलिए बेहद जरूरी है कि जिस पुस्तक की समीक्षा की जा रही है उसकी विषय वस्तु की जटिलता और उसके महत्व को ठीक-ठीक समझा जा सकें। पारंपरिक सैनिक-सामरिक आयाम के साथ-साथ चीनी अर्थव्यवस्था के उतार-चढ़ाव के साथ पर्यावरण और मानवाधिकार जैसे अहम मसले भी अनिवार्यतः जुड़े हुए हैं। अनेक विद्वानों का यह मानना है कि चीन का आर्थिक विकास

और पड़ोसी क्षेत्र में उसका प्रभुत्व स्वदेश में तथा अपने मित्र सहयोगी देशों में (पाकिस्तान सरीखे) मानवाधिकारों के बराबर उल्लंघन के साथ जुड़ा हुआ है। इसके साथ-साथ यह सवाल उठाना भी तर्कसंगत है कि कब तक चीन की अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर बरकरार रह सकती है? और यदि चीन की अर्थव्यवस्था संकटग्रस्त होती है तो क्या इसका प्रभाव दूसरे देशों पर पड़ेगा? भारत के लिए इन सवालों के जवाब ढूंढने से बड़ी प्राथमिकता शायद ही कोई दूसरी हो सकती है।

लेखक ने पुस्तक को 13 अध्यायों में बांटा है जिनमें से प्रत्येक 15-16 से लेकर 20-25 पृष्ठों का है। सबसे पहले अध्याय में चीन की राजनैतिक अर्थव्यवस्था का अवलोकन किया गया है अर्थात् राजनीतिक और आर्थिक क्रियाकलाप के अन्तर्संबंधों को व्यवस्थित करने वाले सूत्रों को समझने का प्रयास है। दूसरे अध्याय में कृषि, भूमि और ग्रामीण अर्थव्यवस्था का सर्वेक्षण है। तीसरे अध्याय में उद्योग धंधों और निर्यात पर आधारित अर्थव्यवस्था का विश्लेषण है। चौथे अध्याय में नगरीकरण और बुनियादी ढांचे का विश्लेषण है। पांचवा अध्याय उद्यमिता की व्यवस्था पर केन्द्रित है। छठा और सातवा अध्याय में वित्तीय व्यवस्था केन्द्र एवं स्थानीय सरकार के बीच संबंध और वित्तीय व्यवस्था प्रबंधन पर आधारित है। आठवें अध्याय का विषय है ऊर्जा और पर्यावरण। नवें अध्याय में आबादी के बदलते स्वरूप और श्रम बाजार का अध्ययन किया गया है। दसवें अध्याय में उभरती उपभोक्ता अर्थव्यवस्था को मुख्य मुद्दा बनाया गया है तो ग्यारहवें अध्याय में सामाजिक अनुबंध अर्थात् विषमता और भ्रष्टाचार के कारण सामाजिक ताने-बाने पर बढ़ते दबावों को जांचा-परखा गया है। बारहवें अध्याय में आर्थिक विकास के बदलते मॉडलों वाली बहस छोड़ी गई है और अंतिम तेरहवें अध्याय में निष्कर्ष के रूप में पूरी पुस्तक का निचोड़ पाठक के लिए सुलभ है। जो कोई भी किसी भी अध्याय में संकलित सामग्री के बारे में और अधिक जानकारी चाहता हो

उसके लिए लगभग 30 पन्नों के फुटनोट है और पूरी पाठ्य सामग्री की सूची भी दी गई है।

हमारी समझ में इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता और सामान्य पाठक के लिए उपयोगिता यह है कि वह अपनी रूचि और जरूरत के अनुसार किसी भी एक अध्याय को अपनी सुविधा के अनुसार एक स्वतंत्र निबंध के रूप में पढ़ सकता है। मसलन कृषि, उद्योग-धंधे, पर्यावरण या सामाजिक विषमता और भ्रष्टाचार जैसे विषयों की प्रामाणिक निष्पक्ष जानकारी प्राप्त करने के लिए पूरी पुस्तक एकसाथ पढ़ना जरूरी नहीं, पर जहां कहीं पाठक को यह महसूस हो कि उसका अपना सामान्य ज्ञान विषय को समझने के लिए यथेष्ट नहीं वह पूरक सामग्री के लिए व सही संदर्भ समझने के लिए विषय वाले अध्याय को पढ़ सकता है। वित्तीय व्यवस्था वाले दोनों अध्यायों में सामान्यतः विशेषज्ञों की ही रूचि हो सकती है, पर विषमता और भ्रष्टाचार से राजनैतिक घटनाक्रम अछूता नहीं रह सकता और न ही बदलते विकास के मॉडलों की चर्चा आबादी के बदलते स्वरूप के अभाव में की जा सकती है। अधिकांश पाठकों के लिए एकबार में दो अन्तर्संबंधित अध्यायों को पढ़ना भी यथेष्ट रहेगा।

जहां तक प्रतियोगी परीक्षाओं के छात्रों का प्रश्न है उनके लिए अंतिम निष्कर्ष वाला अध्याय सबसे उपयोगी सिद्ध होगा। इसके पहले हिस्से में लेखक ने यह सवाल उठाया है कि आखिर आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का स्वरूप क्या है। इस व्यवस्था के राजनैतिक और आर्थिक आयाम क्या है। लेखक ने बेहिचक यह बात स्वीकार की है कि यह अर्थव्यवस्था द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विजेता मित्र राष्ट्रों के द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में स्थापित की गई अर्थव्यवस्था है। संयुक्त राष्ट्र हो या ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था या फिर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विनिमय की मुद्रा के रूप में डॉलर का अपनाया जाना इसी को दर्शाते हैं। इसके अलावा शीतयुद्ध के दौर में अमेरिका ने जिन सैनिक-संगठनों का निर्माण किया

था उनकी उपयोगिता भले ही आज घट गई हो, वह एक ऐसा ढांचा सुलभ कराते हैं जिनका उपयोग अमेरिका पश्चिमी संसार को अपनी छत्र-छाया में एकजुट रखने के लिए कई प्रकार से कर सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण और बाद के वर्षों में यूरोपीय पुनर्निर्माण के लिए अमेरिकी सैनिक-औद्योगिक प्रतिष्ठान के हितों के अनोखे सन्निपात के कारण अमेरिका में बहुआयामी वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति हुई, जिस कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अमेरिका का वर्चस्व लगभग एकाधिकारी प्रकट हुआ। सोवियत संघ के विखण्डन और विलय के बाद वह एकमात्र परम शक्ति और अकेला ध्रुव बचा रहा। यह अमेरिकी प्रभुत्व ही (आर्थिक सांस्कृतिक तकनीकी) अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का यथार्थ था।

लेखक की नज़र में इस यथार्थ को स्वीकार करने के बाद ही चीनी अर्थव्यवस्था के बारे में कोई तर्कसंगत सवाल पूछा जा सकता है। असली सवाल सिर्फ एक है कि क्या चीन अपने आर्थिक विकास के कारण निकट या सुदूर भविष्य में अमेरिका को पीछे धकेल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में नंबर 1 स्थान ग्रहण कर सकता है? यह सच है कि चीन की अर्थव्यवस्था बहुत विशाल है- लगभग दैत्याकार मगर इस बात को अनदेखा करना कठिन है कि वह विश्व की सबसे बड़ी आबादी वाला देश है और उसकी अर्थव्यवस्था का आकार बड़ा होना स्वाभाविक ही है। इसके बाद लेखक इस बात की जांच करने का प्रयास करता है कि क्या यह टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में अग्रणी हो सकता है। लेखक के अनुसार चीन की अर्थव्यवस्था की चमत्कारी सफलता के जो भी उदाहरण हमें चकाचौंध करते हैं वह मौलिक प्रतिभा पर नहीं, बल्कि नकलची निर्माण कौशल के नमूने हैं। उदाहरण के लिए दुनिया भर में जितने भी आईफोन बिकते हैं, उनमें अधिकांश का निर्माण चीन में होता है। इनके निर्यात का आंकड़ा चीन के खाते में दर्ज होता है पर वास्तव में इन फोनों को चीन में सिर्फ जोड़ा जाता है (एसेम्बल किया

जाता है)। इनमें लगाए जाने वाला चिप सैमसंग कंपनी दक्षिण कोरिया में बनाती है और स्पर्श से जागने-सोने वाली टच स्क्रीन को जापानी कंपनी तोशिबा बनाती है। इस टेक्नोलॉजी का विकास अमेरिकियों, यूरोपीयों और जापानियों ने किया था। फोन का कैमरा एक जर्मन कंपनी बनाती है। एसेम्बली के लिए भी जो टेक्नोलॉजी इस्तेमाल की जाती है उसका विकास भी एक ताइवानी कंपनी ने किया है। लेखक इस बात को स्वीकार करता है कि हुवावेई जैसी इक्का-दुक्का कंपनियां हैं जो अपने विशेषीकृत क्षेत्र में दुनियाभर में अग्रणी हैं, पर यह अपवाद स्वरूप ही हैं। अमेरिका के तकनीकी विकास में विदेशी विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों और औद्योगिक कंपनियों की प्रयासशाला में कार्यरत वैज्ञानिकों के सह. कार ने बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। चीन के लिए यह विकल्प न तो सुलभ है और न ही संभव। अबतक के चीन के साथ अपने अनुभव से अनेक विदेशी कंपनियां इस बात से आशंकित हैं कि चीन तस्करी से उनकी बौद्धिक संपत्ति में सैंधमारी के जरिए ही अपनी आर्थिक व्यवस्था को प्रगतिशील रखने के लिए आमादा है।

इसके बाद जिस तीसरे महत्वपूर्ण सवाल पर लेखक ने दृष्टिपात किया है वह यह है कि क्या चीन की अर्थव्यवस्था की मजबूती या उसकी तेज़ विकास दर चीन की राजनैतिक क्षमता को प्रभावित करती है। लेखक का मानना है कि चीन की विदेश नीति और राजनय चाहे कितना भी सक्रिय और आक्रामक क्यों ना नज़र आता हो इसका कोई सीधा संबंध उसकी अर्थव्यवस्था की दृढ़ता या तेज़ आर्थिक विकास दर से नहीं है, बल्कि इसके विपरीत यह सुझाया जा सकता है कि नये रेशम राजमार्ग हों या वन बेल्ट वन रोड की परियोजना। इनके जरिये चीन पड़ोसी राज्यों को अपनी उस अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ना चाहता है जिसकी विकासदर क्रमशः धीमी होने लगी है और जो आबादी के बदलते स्वरूप के कारण निकट भविष्य

में गंभीर चिंता का विषय बन सकती है। इसके अलावा पाकिस्तान, नेपाल, श्रीलंका तथा अफ्रीका के जिन देशों में चीन ने बहुत बड़े पैमाने पर सामरिक पूंजी निवेश की है उसकी पड़ताल आर्थिक लाभ-लागत की दृष्टि से करने पर यही पता चलता है कि इसका बोझ बहुत समय तक चीनी अर्थव्यवस्था नहीं उठा सकती। पाकिस्तान के कुछ हिस्सों में और श्रीलंका में इस बात को लेकर असंतोष मुखर होने लगा है कि चीनी सहायक सहयोगी औपनिवेशिक अधिपतियों जैसा आचरण करने लगे हैं।

लेखक बार-बार इस बात को दोहराता है कि चीन की अर्थव्यवस्था का विकास निश्चय ही एक ऐसी कामयाबी है जिसे नकारा नहीं जा सकता। वह इस बात को भी स्वीकार करता है कि दैन सिआवो पिंग के बाद से आजतक चीन में तीन बार शांतिपूर्ण सत्ता परिवर्तन हो चुके हैं और भले ही मानवाधिकारों के उल्लंघन की शिकायतें चीन से मिलती रही हैं। यह बात स्वीकार करनी पड़ी है कि चीन के वर्तमान शासकों को चीन की बहुसंख्यक आबादी का समर्थन प्राप्त है। ऐसा सिर्फ इसलिए नहीं है कि चीन एक तानाशाही देश है जहां रहने वालों को जनतांत्रिक जीवन का लेशमात्र अनुभव नहीं और वह हजारों वर्षों से शासकों द्वारा नियमित, नियंत्रित जिंदगिया बिताते रहे हैं। माओ के जीवनकाल में महान सांस्कृतिक क्रांति से जो उथल-पुथल हुई थी वह भी इसी कारण चीन को टूटने-बिखरने की कगार तक पहुंचाने के बावजूद नष्ट नहीं कर सकी। लेखक के अनुसार चीन की राजनैतिक व्यवस्था एक लचीली तानाशाही है, जिसकी नींव विशाल क्षेत्र को सुव्यवस्थित तरीके से नियंत्रित करने की है। अब तक किसी भी चीनी शासक के लिए वह साम्राज्यवादी हो या साम्यवादी, प्रशासन का कार्य देहाती और कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने का था। औद्योगिक उत्पादन, नगरीकरण और बुनियादी ढांचे में सुधार ने चीन को अभूतपूर्व बदलाव की दहलीज पर

खड़ा कर दिया है। यह देखने लायक होगा कि आने वाले वर्षों में चीन के शासक कैसे इस चुनौती का सामना करते हैं?

कुल मिलाकर लेखक इसी नतीजे पर पहुंचता है कि चीन निकट भविष्य में ही नहीं सुदूर भविष्य में भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अमेरिका का स्थान नहीं ले सकता। उसका दृढ़ विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था जिन मूल्यों, संस्थाओं परम्पराओं और प्रणालियों पर आधारित है वह पश्चिम की निर्मिती है। वह चीन के लिए उतना ही अपरिचित है जितना चीन उसके लिए। चीन के पड़ोसियों में रूस हो अथवा भारत या फिलीपीन्स इसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में रचे-बसे है और चीन के पास कोई ऐसा वैकल्पिक मॉडल नहीं जिससे वह उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर सकें। इसलिए लेखक का कथन है कि अमेरिका के अति यथार्थवादी विश्लेषकों को यह सोचकर हताश नहीं होना चाहिए कि ट्रंप की नादानी से अमेरिका को चीन शिकस्त दे चुका है।

एक दिलचस्प बात यह है कि चलते-चलते लेखक भारत का जिक्र भी करता है। इस टिप्पणी के साथ कि दुनिया के दूसरे सबसे बड़े देश की अर्थव्यवस्था भी बहुत तेजी से बढ़ रही है और मोदी के सत्ता-ग्रहण करने के बाद वह चीन के करीब पहुंचने की कोशिश कर रहा है। यदि भारत इसमें कामयाब होता है तो चीन के पड़ोसी देश नेपाल, म्यांमार, भूटान ही नहीं दक्षिण-पूर्व एशिया के देश भी भारत की ओर आकर्षित हो सकते हैं। वह इस बात को भी स्वीकार करता है कि भारत की आबादी का स्वरूप जिनमें बहुसंख्यक नौजवान हैं, विकास का लाभांश भुनाने के लिए चीन से कहीं बेहतर स्थिति में है, पर इसके साथ ही लेखक पाठकों का ध्यान इस ओर भी दिलाता है कि भारत की सैनिक और तकनीकी क्षमता नकलची ही सही, चीन के मुकाबले कहीं कम है। हमारी समझ में भारतीय अर्थव्यवस्था और चीनी अर्थव्यवस्था का एकसाथ तुलनात्मक परीक्षण किए बिना चीनी अर्थव्यवस्था के

दुनिया पर प्रभाव के बारे में तर्कसंगत नतीजे नहीं निकाले जा सकते।

अमेरिकी लेखक का नजरिया अमेरिका केंद्रित होना तो समझ में आता है, पर दुनिया के किसी भी और देश को हर हालात में हर वक्त अमेरिका की तुलना में कमतर आंकना विश्लेषण की उपयोगिता को कम करता है। चीन के भविष्य के बारे में न केवल भारत बल्कि रूस की आर्थिक और राजनैतिक स्थिति भी निर्णायक भूमिका निभाएगी। यह भी काफी अटपटा लगता है कि लेखक ने मध्यपूर्व में इस्लामी कट्टरपंथी आतंकवाद के प्रसार और चीन के मुस्लिम बहुल आबादी वाले सिंक्वांग प्रांत में इसके संक्रमण पर संक्षिप्त टिप्पणी भी नहीं की है।

अंत में हम यह मतभेद प्रकट करना परमावश्यक समझते हैं कि 21 वीं सदी में इस बारे में सर्वसहमति नहीं कि पश्चिमी यूरोप और अमेरिका द्वारा 1945 में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था भविष्य में यथावत् चल सकती है। चीन को प्रतीकात्मक रूप से सुरक्षा परिषद का सदस्य बनाया जाना उसके लिए नाममात्र को ही महत्वपूर्ण है। जिस तरह बड़ी शक्तियों का उत्थान और पतन होता है उसे ध्यान में रख यही सोचना बुद्धिमानी है कि अमेरिका का वर्चस्व शाश्वत नहीं समझा जा सकता। अमेरिकी अर्थव्यवस्था की संरचनात्मक कमजोरी के बारे में लेखक दृष्टिबाधित लगता है।

लेखक ने इस पुस्तक में 1979 से अब तक कोई चार दशक के विस्तृत फलक में चीन के कायाकल्प का वर्णन-विश्लेषण इस पुस्तक में किया है। उससे यह अपेक्षा करना व्यर्थ है कि राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाज तीनों की गहरी पड़ताल एकसाथ एक छोटी सी किताब में संतोषप्रद ढंग से की जा सकती है। जो संभव है उसने सरस विचारोत्तेजक शैली में कर दिखाया है। समसामयिक चीन की राजनीति, विदेशनीति और अर्थव्यवस्था के अंतर्संबंधों और इसके वैश्विक संदर्भ को समझने के लिए यह पुस्तक रचना बेहद उपयोगी है। □□



द त्रिशंकु नेशन

लेखक: दीपक कुमार

मणिकांत सिंह

अक्सर जब चुनावों के परिणामों की चर्चा होती है तो 'त्रिशंकु' शब्द का इस्तेमाल बेहिचक किया जाता है। अर्थात किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत हासिल न होने की स्थिति में स्थिर सरकार का भविष्य अधर में लटक जाता है। यह रूपक उस मिथक पर आधारित है, जिसमें राजा त्रिशंकु की कथा का बखान किया गया है। त्रिशंकु का हठ था 'जीतेजी स्वर्ग जाने का' और इस काम में उन को समर्थन दे रहे थे उन्हीं जैसे हठीले क्षत्रिय तपस्वी 'राजऋषि विश्वामित्र।' अपने तपोबल से ऋषि ने राजा को आसमान में तो ऊपर उठा दिया पर उस शाश्वत नियम को तोड़ने में असमर्थ रहे जिसके अनुसार देहांत के बाद ही कोई मनुष्य स्वर्ग पहुंच सकता है। इसी कारण राजा त्रिशंकु अधर में लटके रहे। संक्षेप में दो संसारों के बीच फंसे व्यक्ति, राजनीति या समाज की व्यथा को चित्रित करने के लिए इस कथानक को उद्धृत किया जाता है। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि लेखक ने अपनी मौलिक सोच से पाठकों का ध्यान इस ओर दिलाया है कि भारत की स्थिति कैसे एक राज्य, राष्ट्र और संस्कृति के रूप में त्रिशंकुबद्ध है। यह बात चुनावी नतीजों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह संघर्ष, परंपरा और आधुनिकता, स्वदेशी संस्कार और विदेशी प्रभाव का है जो सिर्फ राजनैतिक दलों के भविष्य को ही नहीं, बल्कि सामान्य आदमी की जिंदगी को भी प्रभावित करता है और भारत की पहचान को भी।

पुस्तक के लेखक दीपक कुमार जवाहरलाल विश्वविद्यालय में आधुनिक भारत में विज्ञान और शिक्षा का इतिहास पढ़ाते हैं और साथ-साथ मीडिया संकाय में भी प्रोफेसर हैं। उनकी लिखी पुस्तकें जिनमें ब्रितानवी राज के दौर में विज्ञान के विकास का अध्ययन किया गया है चर्चित और प्रशंसित हो चुकी हैं। जैसा की इस पुस्तक के उपशीर्षक से संकेत मिलता है यह कई विधाओं का सम्मिश्रण है। यों तो प्रोफेसर कुमार की शिक्षा-दीक्षा इतिहासकार के रूप में हुई है पर उनकी शोध-शैली अंतर अनुशासनात्मक और बहुआयामी है। उनका नजरिया समाजशास्त्रीय है पर अमेरिकी शैली का सर्वेक्षण और आंकड़ों वाला नहीं। व्यक्तिगत अनुभव और अपने अनुभवजनित यथार्थ के आलोक में वह इस प्रश्न का विश्लेषण करते हैं। पुस्तक को 9 अध्यायों में बांटा गया है। पहले का शीर्षक है 'मुफस्सिल इन अ मिरर'। मुफस्सिल अंग्रेजी का एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग आ. जकल बहुत कम होता है। औपनिवेशिक युग में इसका इस्तेमाल होता था। तटवर्ती महानगरों से दूर-दराज उन छोटे पिछड़े उन 'दे कस्बों' के लिए जहां रहना और काम करना अंग्रेज बहादुर पसंद नहीं करते थे। जो प्रशासक या व्यापारी यहां काम-काज के लिए मजबूर थे वह महानगरों, या हिल स्टेशनों आदि में लौटने को अथवा तबादले के लिए तरसते रहते थे। नील और अफीम के किसानों, खदानों के प्रबंधकों और चाय

बागानों में काम करने वालों के लिए बिहार, बंगाल और असम के मुफस्सिल इलाकों में रहना मजबूरी थी। यह जगह शिक्षा और स्वास्थ्य के मामले में नागरिक सुविधाओं से वंचित थी और आजादी के कई वर्षों बाद तक द्रुत यातायात और दूरसंचार की सुविधा से वंचित रही थी। कुल मिलाकर वैज्ञानिक प्रगति और आधुनिक सोच का प्रभाव महानगरों की तुलना में इन इलाकों में बहुत हल्का था। यहां यह याद दिलाने की जरूरत है कि आजादी तक भारत में लगभग साढ़े पांच सौ राज धराने रियासतों और रजवाड़ों में संप्रभु शासकों के रूप में शासन कर रहे थे। इन्होंने अंग्रेजों की प्रभुसत्ता तो स्वीकार कर ली थी, परन्तु उनकी प्रजा अर्थात इन रियासतों में रहने वाली बहुसंख्यक भ. रतीय आबादी अंग्रेजी शिक्षा और आधुनिक जीवन के प्रतीक चिन्हों से अछूती रही थी। इस बात की याद दिलाना इसलिए जरूरी है कि आज यातायात के ऐसे साधन विकसित हो चुके हैं जिनके उपयोग से मुफस्सिल (देहाती-कस्बाती) और मैट्रोपोलिटन (महानगरीय) की दूरी पाटी जा चुकी है। किसी भी नौजवान या अधेड़ के लिए कस्बे से महानगर तक पहुंचना और वापस लौटना आसान बन चुका है।

यह रेखांकित करना परमावश्यक है कि भले ही मुफस्सिल और महानगरीय दुनिया के बीच भौगोलिक दूरी आज मायने नहीं रखती, संस्कार का अंतर आज भी बरकरार है। सबसे बड़ा अन्तर शिक्षा का माध्यम

अर्थात् भाषा वाला है। यह झगड़ा मात्र हिन्दी और अंग्रेजी के बीच का नहीं, बल्कि अंग्रेजी और तमाम अन्य भारतीय भाषाओं के बीच का है। अंग्रेजी को सर्वाधिक महत्व दे अपनी अहमियत को बरकरार रखने की हठ से हिन्दी को अन्य भारतीय भाषाओं के बैरी के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। आम जनता के लिए जो सरकारी स्कूल सुलभ हैं उनमें प्राथमिक स्तर से अंग्रेजी का माध्यम नहीं होता और इसी कारण आगे चलकर यहां के प्रतिभाशाली छात्र भी प्रतियोगिता में पिछड़ने लगते हैं। डॉक्टर, इंजीनियरिंग और कानून की पढ़ाई कर सभी श्रेष्ठ संस्थानों में माध्यम अंग्रेजी होता है और अखिल भारतीय प्रतियोगी परीक्षाओं में भी अंग्रेजी का ही दबदबा है। इस बात का उल्लेख थोड़ा विस्तार से इसलिए जरूरी है, क्योंकि प्रोफेसर कुमार ने इस पहले अध्याय में आपबीती की शैली में उन कष्टों का जिक्र किया है जिनका सामना उन्हें तब करना पड़ा था जब वह आज से कोई चार दशक पहले विद्यार्थी के रूप में मुंबई से दिल्ली आये थे। सबसे कष्टदायक बात यह है कि इन चार दशकों में भी स्थिति में कोई खास अन्तर नहीं पड़ा है। देसी बोली, भाषा का प्रयोग करने वाले को आज भी हिंकारत की दृष्टि से देखा जाता है। मुफस्सिल शब्द का प्रयोग भले ही कम हो गया है, लेकिन यह दर्दनाक खाई आज भी बनी हुई है। यह अंतर इंडिया और भारत का है।

यह खाई सिर्फ भाषाई नहीं, बल्कि अमीर और गरीब तबकों के बीच की दरार भी है। कुल मिलाकर साधन संपन्न लोग ही अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में भेज सकते हैं और वही 'घटिया' सरकारी अस्पतालों में इलाज के लिए मजबूर नहीं। उनकी संताने बचपन से ही हम उम्र विदेशी बच्चों द्वारा पढ़ी जाने वाली कॉमिक्स और किताबें पढ़ते हैं, मसलन पहले फेमस फाइव सीरीज़ के किशोर जासूसी के उपन्यास और फिर मिल्स और ब्रूम्स के रोमानी कथा साहित्य। जाहिर है कि यह बच्चे अंग्रेजी को आगे बढ़ने की राह में बाधक नहीं समझते और वयस्क होने पर अपने जैसे समान रुचि-रुझान वाले शासकवर्ग में आसानी से

घुलमिल जाते हैं। जो लोग कस्बों में रहते हैं वह किसी न किसी तरह महानगरों में पहुंचने के लिए कसमसाते रहते हैं और बहुत कष्ट सहकर भी अपने बच्चों का भविष्य सुधारने के लिए महानगरों का रुख करते हैं। पुस्तक के दूसरे अध्याय का शीर्षक है 'मूव टू द मैट्रो पॉलीस'। लेखक ने अद्भुत कौशल से सिर्फ बीस पन्नों में इस आंतरिक (अन्तर्देशीय) आब्रजन की असलियत का उद्घाटन किया है।

लेखक ने दोटूक यह बात कही है कि जहां पंजाब, आन्ध्र-प्रदेश और तमिलनाडु के खुशहाल परिवारों के नौनिहाल अपनी बेहतरी के लिए अमेरिका, कनाडा, इंग्लैण्ड और ऑस्ट्रेलिया का रुख करते हैं। वहीं गरीब बिहारी और उड़िया दिल्ली, पंजाब और हरियाणा जैसे तेजी से तरक्की कर रहे महानगरों और उनके उप-नगरों की तरफ भागते हैं। गुड़गांव, बैंगलोर, हैदराबाद और पुणे इसका अच्छा उदाहरण है। बड़े पैमाने पर इन बिन बुलाए मेहमानों के बसने से नियोजित नगरीकरण असंभव हो गया है और कभी साफ-सुथरे और सुखद समझे जाने वाले इन महानगरों के बड़े हिस्से मलिन-बस्तियों वाली शहरी बस्तियों में बदल चुके हैं। जो लोग वर्षों से यहां बाहर से आकर बसे हैं यहीं मतदान करते हैं और कोई भी राजनैतिक पार्टी उनकी उपेक्षा नहीं कर सकती। महाराष्ट्र में और कमोबेश दिल्ली, कोलकत्ता और बैंगलोर में भी स्थानीय और बाहरी के बीच टकराव बढ़ा है। लेखक ने पाठक का ध्यान इस ओर भी दिलाया है कि क्यों लोग महानगरों की ओर अंधाधुंध आंख मूंदकर भाग रहे हैं। भारत के देहाती अंचल में आज भी जाति की बेड़ियां मजबूत हैं और सामंती पितृसत्तात्मक सोच व्यक्ति की स्वतंत्रता को बुरी तरह कुंठित करती हैं। आरक्षण की राजनीति ने सामाजिक कटुता को और भी बढ़ा दिया है। एक सीमा तक यही बात साम्प्रदायिक उन्माद और अंधविश्वास के बारे में भी कही जा सकती है। लेखक को इस बात का रत्तीभर दंभ नहीं है कि वह इन जटिल विषयों में कोई मौलिक स्थापना कर रहा है। अपने व्यक्तिगत अनुभव से

जो अन्तर्दृष्टि उसे प्राप्त हुई है उन्हीं का साझा सहज भाव से उसने अपने पाठक के साथ किया है। इसमें एक दिलचस्प बात यह भी है कि भले ही संयुक्त परिवारों के विघटन ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को प्रोत्साहित किया हो समाज के लिए उपयोगी नैतिक मूल्यों का क्षय भी इस प्रक्रिया के साथ अनिवार्यतः जुड़ा रहा है। 'टैक्टॉनिक शिफ्ट' नामक शीर्षक वाला तीसरा अध्याय पुस्तक के पहले हिस्से का एक महत्वपूर्ण अंश है। जिसमें जाति के साथ-साथ साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर भी विचारोत्तेजक टिप्पणियां की गई हैं। लेखक ने राष्ट्रीय चेतना के विकास का सर्वेक्षण करने के साथ-साथ औपनिवेशिक शिक्षा के जनमानस पर प्रभाव का वर्णन भी किया है। भारतीय पौराणिक साहित्य प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास के साथ-साथ समकालीन सतर्क पत्रकारिता आदि से अपने विश्लेषण को लेखक ने पुष्ट किया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमनाथ चटर्जी और महात्मा गांधी के मशहूर कथनों-उद्धरणों के साथ-साथ उन्होंने भक्तिकालीन सूफीसंत बुल्लेशाह के वचनों को भी इस निबंध में स्थान दिया है- 'बुल्ला की जाने में कौन!' धर्म हमें एक पहचान जरूर देता है पर यही हमारी एकमात्र पहचान नहीं होती। जाति-लिंग और आर्थिक वर्ग हमारी इससे कम महत्वपूर्ण पहचान नहीं। भाषा, क्षेत्रीयता, शहरी या देहाती होना किसी एक पहचान को ही पुष्ट या नष्ट करती है।

इस अध्याय की सबसे बड़ी खासियत यह है कि बिना किसी विचारधारा की पक्षधरता के लेखक ने विश्व भर में अपनी यात्रा और अध्यापन के दौरान जो कुछ देखा-सुना है उसके संदर्भ में ही उसने समकालीन भारत के सामाजिक राजनैतिक यथार्थ का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। इस अध्याय में बाबरी मस्जिद के ध्वंस का उल्लेख तो है ही पर मध्यपूर्व में इजराइल-फिलिस्तीनी संघर्ष और आईएसआईएस की साम्प्रदायिक कट्टरता से भारत में साम्प्रदायिकता के ज़हरी प्रसार की तुलना भी अनायास की गई है। चौथा अध्याय हमारी (भारतीय) राजनीति पर केन्द्रित है तो पांचवा बाजार और उस पर नज़र रखने वाले नियंत्रकों पर। छठा

अध्याय ज्ञान और शिक्षा के अन्तर्संबंध को टटोलने की कोशिश करता है। लेखक इस बात को स्वीकार करता है कि भारत की राजनीति वास्तव में जनतांत्रिक है, वह पुनरुत्थान वाली नहीं, पर इस बात को अस्वीकार करता है कि भारत में जनतंत्र की जड़े सदियों पुरानी हैं ईसा के जन्म से छः सदी पहले भी भारत में गणतंत्र थे जिनकी प्रणाली जनतांत्रिक थी। इसके अल. वा दूर्वाजड़ों पर ग्रामीण पंचायते अपने स्थ. लीय संसाधनों के प्रबंधन के लिए कमोबेश स्वाधीन थी और इस कारण आम जनता का संस्कार जनतांत्रिक ही था।

इस अध्याय की कमजोरी यह है कि लेखक ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों से व्यापक सरलीकरण और समानीकरण किये हैं। यह बहुत तर्कसंगत नहीं लगता और कई बार नौकरशाही के बारे में उसके स्वभाव और चरित्र के बारे में कुछ ऐसी टिप्पणियां की गई हैं जो बोलचाल के चालू मुहावरों में संचित सामान्य ज्ञान की परिधि तक ही सीमित है। मसलन लेखक का मानना है कि भारतीय नौकरशाही लालफीताशाही से बुरी तरह ग्रस्त है और भ्रष्टाचार उसे घुन की तरह कमजोर कर रहा है। मौका-परस्त अफसर बहती बयार के साथ पीठ पलटते हैं और अपने राजनैतिक आकाओं के सामने डटकर खड़े रह मूल्यों या नैतिकता के आधार पर कर्तव्य पालन में अक्षम रहते हैं। इसी सांस में लेखक यह भी जोड़ देता है कि सभी अफसर एक जैसे नहीं होते और वह कुछ चुनिंदा आला अफसरों का उल्लेख करता है जो न केवल अपवाद सिद्ध हुए हैं बल्कि जिन्होंने अपने-अपने कार्यक्षेत्र में क्रांतिकारी बदलाव का सूत्रपात किया है। इनमें चुनाव आयोग के टीएन सेशन और एसवाई कुरैशी के साथ-साथ मेट्रो का सपना साकार करने वाले श्रीधरन के नाम चोटी पर रखे गए हैं। कुछ ऐसे मझले स्तर के जिलाधिकारियों और मंडलाधिकारियों के नाम भी लेखक ने गिनाये हैं जो अपनी ईमानदारी और कर्तव्य परायणता के लिए अलंकृत हुए हैं।

यहां हम अपने पाठकों का ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहेंगे कि अधिकांश उदाहरण

उस पीढ़ी के हैं, जिन्हें आज अवकाश ग्रहण किए एक दशक या इससे अधिक समय बीत चुका है। नई पीढ़ी के बार-बार प्रताड़ित होने वाले और स्थानांतरित होने वाले खेमका जैसे आईएएस अधिकारियों का अनुभव यहां दर्ज नहीं किया गया है। अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाओं में आईएएस अपने को सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि मानते हैं और इस कारण दूसरी सेवाओं के सदस्य न तो नीति निर्धारक पदों तक पहुंच पाते हैं और यदि पहुंचे भी तो उन्हें आईएएस बिरादरी घेरा. बंदी कर निष्क्रिय बना देती है। जब कभी किसी बड़े भ्रष्टाचार की न्यायिक या सीबीआई द्वारा जांच होती है तब भी दोष नौकरशाह का ही सिद्ध होता है और उसे ही निलंबन या कारावास भोगना पड़ता है। कोयला आवंटन घोटाला ओर 2-जी के प्रसंग ऐसे ही हैं। जाहिर है कि ऐसी हालत में नौकरशाही को खासकर ईमानदार और कार्यकुशल अधिकारियों को भी लकवा मार जाता है।

इस अध्याय की एक कमजोरी यह भी है कि भले ही इसका शीर्षक हमारी राजनैतिक प्रणाली (पॉलिटी) है, पर इसका बड़ा हिस्सा सैनिक और गैर सैनिक नौकरशाही पर केंद्रित है वह भी लेखक के अपने अनुभवों पर आधारित। संसद और राजनैतिक दलों तथा नौकरशाही के बीच के रिश्ते ही तमाम लोकनीतियों और राजनैतिक क्रियाकलाप को प्रभावित करते हैं। मगर बिना विस्तार में जाये या समाज विज्ञानी शोध के अनुशासन को अपनाये बहुत सारी टिप्पणियाँ किस्सागोई ही लगती है। अनेक फुटनोट ऐसे हैं जो चुलबुली सनसनीखेज सुर्खियों पर ही आधारित हैं और जिनकी प्रमाणिकता भले ही असंदिग्ध हो, सवा अरब आबादी वाले इस देश की राजनीति का प्रतिनिधि प्रतिबिंब इन्हीं को नहीं समझा जा सकता।

इन पंक्तियों के लेखक की राय में असली समस्या यह है कि विद्वान और संवेदनशील लेखक अपनी किशोरावस्था और जवानी के अनुभव के आलोक में आज के भारत को एक ऐसी कसौटी पर कसने का प्रयास कर रहा है जिसमें आज

की बहुसंख्यक नौजवान आबादी की कोई हिस्सेदारी नहीं। जब लेखक यह विलाप करता है कि आज की संसद राममनोहर लोहिया, भूपेश गुप्त या चन्द्रशेखर, तारकेश्वरी सिन्हा सरीखे ओजस्वी वक्ताओं, जमीन से जुड़े जनप्रतिनिधियों से वंचित है तो यह बात जरा अटपटी लगती है, क्योंकि जिस पीढ़ी ने वर्तमान विधायकों-सांसदों को चुना है उनके लिए यह नाम प्राय अपरिचित और विस्मृत है।

जब से प्रधानमंत्री मोदी ने सत्ता ग्रहण की है तब से भारतीय राजनीति में बहुत बड़ा बदलावा आया है। भाजपा की अगुवाई में पहली बार स्पष्ट बहुमत वाली सरकार बनी है जो भारत की नेहरुयुगीन या इंदिरा कालीन अवधारणा को स्वीकार नहीं करती। भाजपा और उसके प्रेरक-पोषक राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के लिए हिन्दुस्तान में हिन्दू संस्कृति (जो हिन्दू धर्म पर आधारित है) को धर्मनिरपेक्षता के नाम पर नकारा या झुठलाया नहीं जा सकता। बुनियादी अधिकारों का संरक्षण मात्र अल्पसंख्यकों के लिए नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त न्यायपालिका के साथ विधायिका की रस्साकशी ने एक लगातार मुठभेड़ का रूप ले लिया है। जो लोग अपने को उदार मानवीय मूल्यों का हिमायती और वैज्ञानिक सोच का पक्षधर समझते हैं उनके लिए नई सरकार के तेवर साम्प्रदायिक असहिष्णु और उदारवादी हैं।

प्रोफेसर दीपक कुमार अपने को न तो अंग्रेजी माध्यम में पढ़ा अंग्रेजियत का पक्षधर, उदार, जनतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष मानते हैं और न ही अपने को उस जमात में खड़ा देखते हैं जो लुटियन्स की दिल्ली को अपना जन्मजात बैरी समझती है और देहाती-कस्बाती भारत को ही असली भारत मानती है। पुस्तक के जिस अध्याय में वह ज्ञान और शिक्षा की चर्चा करते हैं वह इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। इसमें प्राचीन भारतीय परंपरा की परा-अपरा विद्या और मध्ययुगीन इस्लामी सुल्तानों के दौर में दीन और दुनियावी ज्ञान के जिन्न से अपनी बात शुरू करते हैं। इसके बाद ही वह अंग्रेजी औपनिवेशिक काल में मैकाले के कुख्यात

नोट और शिक्षा के कारण भारतीय प्रतिभा और मौलिक सोच के कुटित होने का विश्लेषण करते हैं। यह बात पहले भी कई विद्वानों ने की है, परन्तु लेखक का इस ओर ध्यान दिलाना बेहद जरूरी समझा जाना चाहिए कि क्यों आजादी के 70 साल बाद भी भारत के शासकों ने नौकरशाहों और जनप्रतिनिधियों ने शिक्षा और शोध को भारत की जमीन और सांस्कृतिक जड़ों से जोड़ने का काम शुरु नहीं किया है? इस बात पर गंभीरता से सोचने की जरूरत है कि गांधी और लोहिया जैसे लोग जिनकी शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी और अन्य विदेशी भाषाओं में हुई थी न तो भारतीय समाज में व्याप्त धार्मिक मूल्यों को नकारते थे और न ही उन्हें हिन्दू संस्कृति का जन्मजात बैर किसी और धर्म से या धर्मनिरपेक्षता से नज़र आता था। गांधीजी ने अपनी एक पुस्तक का शीर्षक ही 'मैं हिन्दू क्यों हूँ' चुना था। डॉक्टर लोहिया ने अपने एक निबंध में शिव रामकृष्ण की जो अद्भुत मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्रीय व्याख्या की है उसे कांग्रेस के कुनबा परस्त शासनकाल में निरंतर स्कूली पाठ्य पुस्तकों से या विश्वविद्यालय के शोध कार्यक्रमों से राजनैतिक विपक्षियों का शोध समझकर बाहर ही रखा गया था।

यह भी याद रखने की जरूरत है कि कांग्रेस के लंबे राज में खासकर नेहरु इंदिरा गांधी के शासनकाल में (जो दौर पैंतीस साल से अधिक रहा) समाजवादी सोच ही राजनीति को दिशा देता रहा था और साम्यवादियों की एकधारा (भारतीय कॉम्यूनिस्ट) अल्पमत वाली इंदिरा सरकार को समर्थन देने के कारण सरकार का हिस्सा बन गई थी। शिक्षा विभाग सेयद नुरुल हसन को सौंपा गया था जिन्होंने अपनी पसंद के साम्यवादी सहयात्रियों की नियुक्ति असरदार शिक्षण शोध-संस्थानों में करवाई थी। एक छोर पर जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय था तो दूसरे पर एनसीई. आरटी, सीएसआईआर, आईसीएसएसआर और यूजीसी आदि सभी जगह ऐसे ही लोग विराजमान थे। यहाँ हमारा मकसद किसी व्यक्ति या संस्थान विशेष की योग्यता अथवा पात्रता पर आक्षेप करने का नहीं,

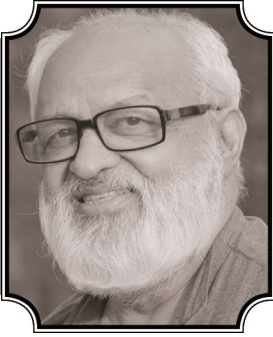
पर यह बात रेखांकित किए बिना काम नहीं चल सकता कि इस लंबे दौर में किसी दूसरी विचारधारा के प्रति रत्तीभर सहिष्णुता या उदारता वामपंथी कट्टरपंथियों ने नहीं दर्शाई थी। आज सत्ता परिवर्तन के बाद अचानक अबतक अधिकार और सुविधा संपन्न इस तबके को ऐसा लग रहा है कि फासीवादी प्रतिपक्षी चुन-चुन कर उनको साफ कर रहे हैं। लेखक स्वयं अपने को इस मुठभेड़ के बीच में पाता है और जाहिर है कि उसे अपनी स्थिति त्रिशंकुवश लगती है।

इसके पहले वाला (पांचवा) अध्याय बाजार और उसके नियंत्रकों पर केन्द्रित है। राजनीति वाले अध्याय की तरह यहां भी बहुत सारी ऐसी चीजों को समेटने के प्रयास से असमंजस पैदा करने वाला घालमेल नज़र आता है। मसलन न्यायपालिका को पांच पन्नों में निपटा दिया गया है और छः-सात पन्ने ही मीडिया के खाते में पढ़े हैं। शेष दस पन्ने जिनमें भूमंडलीकरण के दौर में मंदी का विश्लेषण किया गया है नेहरु के युग के घपले-घोटालों से लेकर नरसिंह राव के हर्षद मेहता और केतन पारिक वाले शेयर बाजार के घपले-लफड़ों को गागर में सागर की तरह लपेटते समकालीन भन्डाफोड़ों तक पहुंचते हैं। जाहिर है कि किसी भी मुद्दे के साथ न्याय संभव नहीं। यहां भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता या मीडिया की स्वाधीनता के संदर्भ में जो उदाहरण लेखक गिनाता है वह बीजीवर्गीस सरीखे ही हैं। तब से अब तक प्रसार भारती हो या कोई और मीडिया संस्थान, उस युग की तुलना आज के यथार्थ से नहीं की जा सकती। इन उभरती चुनौतियों का विस्तार से विश्लेषण मीडिया और मंदी जैसी पुस्तकों में समाजशास्त्रियों ने किया है। मोदी के सत्ता ग्रहण करने के साथ मीडिया के स्वामित्व का भी और प्रबंधन का भी नाटकीय कायाकल्प हुआ है। एनडीटीवी के मालिक प्रणय रॉय के खिलाफ छापा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन बताया जा रहा है, पर दूसरे चैनल जो बड़े औद्योगिक घरानों के साम्राज्य का हिस्सा बन चुके हैं क्या स्वतंत्र समझे जा सकते हैं? सोशल मीडिया में वायर और क्विंट जैस 'निर्भीक' चैनल हैं, क्या उन्हें वास्तव

में निष्पक्ष या स्वाधीन समझा जा सकता है? इनमें किसकी पूंजी लगी है? तमाम सवाल अनुत्तरित हैं।

अन्य दो अध्याय, जिनके शीर्षक 'रीज़न एण्ड रीलिज़न' और 'साइंस, टेक्नोलॉजी एण्ड डेवलपमेंट' हैं, अतिसंक्षेप की शैली के कारण सूत्र वाक्य जैसे बन गए हैं। लेखक को इस बात का दुख है कि आज हमारे जीवन में वैज्ञानिक शोध और नैतिक मूल्य दो विपरीत ध्रुवों में विराजमान हैं और लोक कल्याणकारी राजनीति इन्हें प्रेरित नहीं करती। वह एक बार फिर अपनी तरुणाई के नामों को याद करते हैं मेघनाथ शाह, शांतिस्वरूप भटनागर, होमी जहांगीर भाभा, विक्रम साराभाई, एमएस स्वामीनाथन आदि। यह दोहराने की जरूरत फिर से नहीं होनी चाहिए कि यह अध्याय पीछे पलटकर पुनरावलोकन जैसा ही है। भविष्य के क्षितिज टटोलने की कोई चेष्टा यहां नहीं की गई है। अंतिम नवें अध्याय का शीर्षक है 'बिगर इंडिया' जिसका अभिप्राय यह है कि भारत किस मार्ग का अनुसरण करने वाला है। दोराहे पर खड़ा व्यक्ति भी यदि किंकर्तव्य विमूढ़ हो तो उसकी स्थिति त्रिशंकु जैसी ही हो जाती है। वास्तव में यह हिस्सा साइंस टेक्नोलॉजी एण्ड डेवलपमेंट वाले अध्याय का ही विस्तार लगता है।

ऐसा जान पड़ता है कि लेखक लिखना तो आत्मीय संस्मरण चाहता था पर अंततः उस अध्यापकीय मोह को नहीं छोड़ सका जिसमें आपबीती को अन्य शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी स्रोत बनाने का प्रयास होता है। कुछ ही समय पहले प्रसिद्ध समाजशास्त्री आन्द्र बेतीये ने अपने संस्मरण प्रकाशित कराए उन्होंने अपनी जीवनी को खुली किताब की तरह सामने रखा पर उनका मुख्य सरोकार इसके जरिये भारत में समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का दस्तावेज़ तैयार करना था। कुछ-कुछ ऐसा ही पीके उमन के संस्मरणों में भी देखने को मिलता है। जिन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से लेकर जवाहरलाल विश्वविद्यालय तक की अपनी शोध यात्रा को व्यक्तिगत से ज़्यादा सार्वजनिक दिलचस्पी और उपयोगिता का विषय बनाया है। इन दोनों की तुलना में यह पुस्तक हल्की उठरती है। □□



ब्लड एंड सिल्क

लेखक : माइकल वातिकियोतिस

प्रो. पुष्पेश पंत

हाल के महीनों में दक्षिण चीनी सागर में चीन के आक्रामक विस्तारवाद की वजह से विएतनाम तथा फिलिपीन्स में ही नहीं जापान, दक्षिण कोरिया, इंडोनेशिया के साथ-साथ अमेरिका भी बुरी तरह आशंकित हैं। भारत के लिए भी एक बार फिर दक्षिण-पूर्व एशिया सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बन गया है। माइकल वातिकियोतिस की पुस्तक ब्लड एंड सिल्क : पावर एंड कौनफ्लिक्ट इन मॉडर्न साउथईस्ट एशिया इस भूभाग की राजनीति के उलझे सूत्रों को समझने में असाधारण रूप से सहायक है।

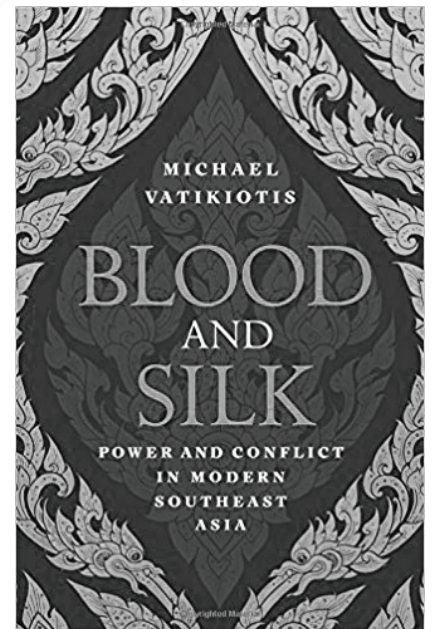
पुस्तक कुल 12 अध्यायों में बांटी गई है। पहले अध्याय का शीर्षक है 'फर्स्ट जर्नी इनटू दि हार्ट ऑफ दि सी' यह लेखक का आत्मसंस्मरणात्मक शैली में लिखा विषय प्रवेश है। यह शैली असावधान पाठक को भटका सकती है, अतः सतर्क रहने की जरूरत है। यह भूमिका रस्म अदायगी के लिए नहीं लिखी गई है। इसमें बहुत सारे ऐसे भौगोलिक तथ्य और ऐतिहासिक जानकारियां प्रस्तुत की गई हैं जिनसे अपना सामान्य ज्ञान तो बढ़ाया ही जा सकता है। इस क्षेत्र के भूराजनैतिक-सांस्कृतिक महत्व का अनुमान भी होता है। मसलन यहां के कुल देशों की आबादी 60 करोड़ है जो दुनिया की कुल जनसंख्या का दसवां हिस्सा है। यहां मुसलमानों का घनत्व संसार के किसी दूसरे हिस्से से अधिक है-दक्षिण एशिया में भारत, पाकिस्तान तथा बांग्लादेश को छोड़कर।

बौद्धों, हिंदुओं तथा ईसाइयों की संख्या भी कम नहीं। यहां मलय, विएतनामी, थाई, बर्मी के अतिरिक्त अंग्रेजी, फ्रांसीसी, डच, हिस्पानी भाषाएं बोली जाती हैं। तेल और गैस का विपुल भंडार यहां सुलभ है और पूर्वशिया तथा ऑस्ट्रेलिया न्यूजीलैंड को विश्व से जोड़ने वाले जलमार्ग यहां से गुजरते हैं। सिंगापुर संसार का सबसे व्यस्त बंदरगाह है और बैंकॉक के साथ अत्यंत व्यस्त हवाई अड्डों में एक। शेष अध्यायों के शीर्षक भी कम कुतूहल जगाने वाले नहीं- 'लैंड बिलो दि विंड', 'डिवाइन किंग्स एंड डार्क प्रिंसेज', 'एलीफैंट्स एंड दि लौंग ग्रास', 'बायगौन्स बि गौन', 'और्डरली ओपनिंग', 'डिल्यूजन ऑफ डेमोक्रेसी', 'ग्रीड, ग्राफ्ट एंड गोर', 'स्मॉल वॉर्स एंड कटेस्टेड आइडेंटिटीस', 'क्लैशिंग बिलीप्स एंड दि न्यू जिहाद', 'दि ड्रैगन अपेरेट' तथा 'दि रोड अहेड'। इनमें 'डिल्यूजन ऑफ डेमोक्रेसी', 'स्मॉल वॉर्स एंड कटेस्टेड आइडेंटिटीस', 'क्लैशिंग बिलीप्स एंड दि न्यू जिहाद' तथा 'दि ड्रैगन अपेरेट' विशेष रूप से पठनीय है।

इनकी समीक्षा करने से पहले कुछ टिप्पणियां अन्य अध्यायों पर- 'बायगौन्स बि गौन', 'ग्रीड, ग्राफ्ट एंड गोर' में अंग्रेजी शब्दों से खिलवाड़ और अनुप्रास अलंकार प्रेम के कारण कहीं-कहीं तिल का ताड़ बनता नजर आता है। लालच, घूसखोरी और खून खराबा सिर्फ दक्षिण एशिया के देशों की राजनीति को ही प्रदूषित नहीं करते। न ही यह सुझाना तर्क

संगत है कि विकसित पश्चिमी जनतांत्रिक देश इनसे मुक्त हैं। अमेरिका की मध्यपूर्व में सत्ता परिवर्तन की नीति हो या फिर राष्ट्रपति चुनावों के पहले और बाद में भ्रष्टाचार यह सभी एकाधिक बार जगजाहिर हो चुके हैं।

यह समझना भी कठिन है कि क्यों लेखक जिहाद के पहले 'न्यू' विशेषण लगाना जरूरी समझता है। मलेशिया और इंडोनेशिया तथा थाइलैंड और फिलिपीन्स आधा सदी से वहाबी इस्लामी कट्टरपंथी की चपेट में हैं। इसी कारण उदार जनतांत्रिक प्रणाली का लगातार क्षय हुआ है। सांप्रदायिक असहिष्णुता का हिंसक विस्फोट भी नया नहीं। 'क्लैशिंग



बिलीफ्स' का प्रयोग भी आज अटपटा लगता है, जब विचारधारा का द्वंद समाप्त हो चुका है और हर जगह भूमंडलीकरण को अपनाया जा चुका है। असली भिड़ंत सभ्यताओं की नहीं कट्टरपंथी इस्लाम और 'शेष सब' के बीच है।

'स्मॉल वॉर्स एंड कंटेस्टेड आइडेंटिटीस' समसामयिक भारत के संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उपराष्ट्रवादी अस्मिता को बहुत आसानी से अलगाववाद में परिवर्तित किया जा सकता है। विविधता में एकता तथा एकता में विविधता फर्क हैं। अपने से भिन्न को स्वीकार करना और उसे सहने में भी बड़ा अंतर है। लेखक ने बहुत विस्तार से यह साफ किया है कि म्यांमार हो या थाइलैंड, मलेशिया, इंडोनेशिया हो या फिलिपीन्स सभी जगह सीमांती क्षेत्र में निवासी अल्पसंख्यक जनजातीय या सांप्रदायिक समुदाय अपना असंतोष हिंसक विद्रोह के रूप में मुखर करते हैं। इंडोनेशिया में सुमात्रा में बंदा अच्चे, कालिमान्तान उतरा तथा इरियान बरात (तिमोर) में बरसों से गृहयुद्ध जैसी स्थिति है तो दक्षिणी फिलिपीन्स में कट्टरपंथी इस्लामी बगावत मध्य पूर्व से कहीं पहले सर उठा चुकी थी। म्यांमार में आज दर्जनों विप्लव एक साथ नहीं भड़क रहे हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि करेन, कचिन, शान, मोन या अराकानी सभी शांत हैं। रोहिंगिया मुसलमानों की दुर्दशा अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की चिंता का विषय बनी है। दक्षिणी थाइलैंड और उत्तरी मलेशिया के बीच भी अशांति राजनयिक तनावों को जन्म दे चुकी है। जिन छोटे युद्धों का वर्णन इस अध्याय में किया गया है वह मादक द्रव्यों की तस्करी, देह व्यापार के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हैं। अपने सामरिक स्वार्थों के लिए पड़ोसी देश इन अस्मिताओं को प्रोत्साहित करते रहे हैं। असम, मणिपुर, नगालैंड के बागी म्यांमार और बांग्लादेश में पनाह लेते रहे हैं।

थाइलैंड हो या इंडोनेशिया लगातार जारी छोटा युद्ध भी सेना को ताकतवर बनाने में मदद करता है। निर्वाचित नागरिक सरकार को अक्षम प्रमाणित करने के लिए तो इनका उपयोग किया ही जा सकता है। देश की एकता-अखंडता की रक्षा के लिए तख्ता पलट के बाद फौजी शासन की अनिवार्यता को वैधानिक प्रतिष्ठा भी दिलाई जा सकती

है। बर्मा में 1962 तथा इंडोनेशिया में 1965 के बाद से यही देखने को मिला है। थाइलैंड में 1932 से ही सेना शासन करती रही है। विएतनाम में साम्यवादी पार्टी और जन मुक्ति सेना में फर्क करना कठिन था। जनरल जियाप के निधन के बाद निश्चय ही बदलाव आया है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वहां भी सेना की राजनैतिक भूमिका सीमित हुई है।

'डिवाइन किंग्स एंड डार्क प्रिंसेज' इनकी तुलना में अधिक विचारोत्तेजक है। मध्ययुग में भारतीय प्रभाव में राजसत्ता को वैधानिक प्रतिष्ठा देने के लिए शासनाधिकार को देवदत्त अधिकार की दावेदारी की गई थी। आधुनिक युग में स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद अनेक शासकों ने स्वयं को पौराणिक-मिथकीय-या प्रतापी ऐतिहासिक शासकों के उत्तराधिकारी के रूप में प्रस्तुत किया। सुकाणों, सिंहनुक इस सिलसिले में सबसे पहले याद आते हैं। इनकी सफलता लोकप्रियता का आधार करिश्माई व्यक्तित्व था। कई दशक पहले अमेरिकी समाजशास्त्री विल्फ्रैड हन्ना ने दक्षिण पूर्व एशिया के नेताओं को दो श्रेणियों में विभाजित कर-करिश्माई और प्रबंध कुशल- उनके मूल्यांकन का प्रयास किया था। काल के प्रवाह के साथ लोकप्रिय नेताओं की तानाशाही प्रवृत्तियां प्रकट होने लगीं। इनका कुरूप काला पक्ष भयावह था। डार्क प्रिंस मुहावरे का प्रयोग ईसाई शैतान के लिए करते हैं। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अनेक दक्षिण एशियाई नेता राक्षसी खलनायक ही रहे, राष्ट्रनिर्माता या प्रेरक नेता नहीं बन सके। ने विन, पॉल पौत हों या मारकोस इनके लिए यह विशेषण उपयुक्त लगता है।

इस पुस्तक का पूरा लाभ उठाने के लिए यह बहुत जरूरी है कि हम भारत और दक्षिण पूर्व एशिया के संबंधों के बीसवीं सदी के उत्तरार्ध के अनुभव का पुनरावलोकन करें। यों तो भारत और इस भूभाग के आर्थिक एवं सांस्कृतिक रिश्ते हजारों साल पुराने हैं, पर यह जगह उनके संक्षिप्त सर्वेक्षण की भी नहीं सिर्फ इतना रेखांकित करने की जरूरत है कि यह क्षेत्र ऐतिहासिक रूप से चीन तथा भारत के प्रभावक्षेत्र वाले भागों में बंटा रहा है। औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के युग में ब्रिटेन, फ्रांस, हॉलैंड का आधिपत्य यहां स्थापित

हुआ। जिससे आधुनिक युग की पश्चिमी प्रवृत्तियों का प्रवेश यहां हुआ। रोचक बात यह है कि हर यूरोपीय देश का औपनिवेशिक ढांचा और गुलामी झेल रहे प्रत्येक दक्षिण एशिया देश का अनुभव में भी फर्क रहा। उत्पीड़न, शोषण आदि का शिकार सब हुए पर हर जगह स्वाधीनता संग्राम का स्वरूप निजी अनुभव ने तय किया। द्वितीय महायुद्ध वाले अंतराल में जापानी सैनिक साम्राज्यवादी विस्तार हुआ। 1940 वाले दशक के मध्य तक यहां सभी यूरोपीय ताकतों की जड़ें उखड़ चुकी थीं और साम्राज्य की पुनर्स्थापना असंभव हो चुकी थी। फ्रांस ने विएतनाम में ऐसा करने की असफल चेष्टा की जहां 1954 में डिएन बिएन फू की करारी हार के बाद उसे पलायन करना पड़ा। मलाया तथा बर्मा में कब्जावर जापानियों को खदेड़ने के लिए अंग्रेजों ने जिस देशप्रेमी छापेमारी को प्रोत्साहित किया था, वह उन्हीं के गले की फांस बन गई। उपद्रवी विद्रोही संगठित होकर अंग्रेजों को खदेड़ने वाले संग्राम में जुट गए। इन्हें जल्दी ही चीन के साम्यवादियों का समर्थन प्राप्त होने लगा। राष्ट्रवाद और साम्यवाद का सन्निपात दक्षिण पूर्व एशिया के अनेक देशों में देखने को मिलता है। चूंकि भारत की आजादी गांधीवादी अहिंसक तरीके से हासिल हुई थी। विएतनाम, इंडोनेशिया के सशस्त्र स्वाधीनता सेनानियों का खुल कर समर्थन भारत ने नहीं किया। शीत युद्ध के सूत्रपात ने यहां की राजनैतिक इकाइयों को तीन खेमों में बांट दिया जो एक या दूसरी महाशक्ति के संधिमित्र थे या गुटनिरपेक्ष। यह स्थिति 1960 के दशक के मध्य तक जारी रही, जिस समय तक भारत को पथप्रदर्शक समझा जाता था। विएतनाम के घटनाक्रम ने पूरा परिदृश्य बदल दिया।

आज से कोई पचास साल पहले दक्षिण पूर्व एशिया को दो महाशक्तियों के बीच लड़े जा रहे शीत युद्ध का सबसे संवेदनशील रणक्षेत्र समझा जाता था। विएतनाम युद्ध का ज्वार उफान पर था और अमेरिका द्वारा लड़ाई में लगातार फौजी कार्यवाही तेज करने (एस्कलेशन) का फैसला अभूतपूर्व राजनयिक संकट को जन्म दे रहा था। इस बात की आशंका प्रबल थी कि इस भड़काने वाली हरकत के जबाब में उत्तरी विएतनाम

की साम्यवादी सरकार के समर्थक चीन तथा रूस भी कुछ ऐसी प्रतिक्रिया कर सकते हैं जिसका अंजाम परमाणु हथियारों के प्रयोग तक हो सकता है। दिलचस्प बात यह है कि इसी समय चीन तथा सोवियत संघ के बीच सैनिक मुठभेड़ हो चुकी थी, पर हिंदचीन में अमेरिका पर अंकुश लगाने के बारे में दोनों सहयोगी थे। 1965 से 1970 तक का यह दौर भारत के लिए चुनौतियों से भरा था। एक ओर वह गुटनिरपेक्ष देशों का नेतृत्व कर रहा था तो दूसरी ओर अमेरिका से खाद्यान्नों के आयात पर निर्भर था। 1956 के जिनेवा सम्मेलन में विएतनाम के विभाजन के बाद जिस अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग का गठन किया गया था भारत उसका अध्यक्ष था, अन्य सदस्य पोलैंड और कनाडा थे, जो महाशक्तियों के साथ संधिमित्र के रूप में जुड़े थे। अर्थात् संकट निवारण में भारत की राजनयिक भूमिका ही प्रमुख थी।

गुथी इसलिए और भी जटिल हो गई थी, क्योंकि 1962 वाले सीमायुद्ध में चीन के साथ सैनिक मुठभेड़ और करारी हार के बाद भारत खस्ताहाल था और अंतर्राष्ट्रीय जगत में उसका कद अचानक बौना हो गया था और वह गुटनिरपेक्ष जमावड़े में भी अकेला पड़ गया था। 1965 में पाकिस्तान के साथ जंग के पहले ही चीन ने उसके खिलाफ पिंडी-पीकिंग-जकार्ता धुरी का निर्माण कर लिया था। इस सबके बावजूद भारत ने यथासंभव तटस्थता के साथ इस आयोग में अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह किया और विएतनाम में अमेरिका की अमानवीय नीतियों की निंदा भर्त्सना की। चूंकि चीन इस समय तक खुद न तो सुरक्षा परिषद का सदस्य था और न ही उसके साथ कोई गैर साम्यवादी देश खड़ा था। दक्षिण पूर्व एशिया के संदर्भ में भारतीय राजनय उसे अपने हित में लगता था। यहां उसका विरोध या प्रतिरोध करने की कोई जरूरत उसने महसूस नहीं की। 1965 में इंडोनेशिया में तख्ता पलट के बाद सुकार्णो की जगह पहले जनरल नसूतियान फिर जनरल सुहार्तो ने ली। रातों-रात गुटनिरपेक्ष इंडोनेशिया अमेरिका का समर्थक बन गया। इसका प्रमुख कारण चीनी मूल के व्यापारियों-उद्यमियों के प्रति रोष था, जिसका विस्फोट सांप्रदायिक दंगों में हुआ। इसके मद्देनजर चीन को कुछ

समय के लिए शांत संयमी राजनय के लिए विवश होना पड़ा।

1971 में पाकिस्तान का विभाजन बांग्लादेश मुक्तिसंग्राम के बाद हुआ, जिसमें भारत की भूमिका निर्णायक रही। 1962 का खोया आत्मसम्मान लौटाने के साथ भारत की अंतर्राष्ट्रीय छवि में भी सुधार हुआ। इसका असर दक्षिण पूर्व एशिया भूभाग पर पड़ना स्वाभाविक था। 1973 तक यह स्पष्ट हो चुका था कि अहंकारी अमेरिका को विएतनाम से रणछोड़ मुद्रा में शर्मनाक हार स्वीकार कर लौटना पड़ेगा। किसिंजर और निक्सन माओवादी चीन के साथ सुलह के लिए तैयार हो चुके थे। लगभग समर्पण के इस तेवर ने विएतनाम में शांति की संभावना को उजागर किया और इस विभाजित तहस नहस ने देश के एकीकरण की जमीन भी तैयार की। जहां विएतनाम युद्ध विराम की तरफ बढ़ रहा था पड़ोसी कंबोडिया में कट्टरवादी पोलपॉट ने सत्ता ग्रहण की।

भारत के मित्र गुटनिरपेक्ष आंदोलन के संस्थापकों में एक, जनतांत्रिक राजकुमार सिंहेनुक अपदस्थ हुए और इस देश में चीनी प्रभाव अचानक बढ़ गया। इस घटनाक्रम का मिला जुला प्रभाव भारत के प्रतिकूल रहा। एक ओर राजनयिक मध्यस्थता की जरूरत नहीं रही और दूसरी तरफ शांति की पुनर्स्थापना के बाद पुनर्निर्माण में हाथ बंटाने लायक स्थिति उसकी नहीं थी। 1975 तक आंतरिक असंतोष ने सामाजिक अस्थिरता को अराजकता का रूप देना आरंभ कर दिया था। आपातकाल की घोषणा के बाद भारत अंतर्मुखी होता गया- कमोबेश अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में बहिष्कृत। जनता पार्टी की सरकार की दिलचस्पी वैदेशिक मामलों में नहीं थी और इस कारण दक्षिण पूर्व एशिया का अवमूल्यन हुआ। पंजाब में खालिस्तानी तथा जम्मू कश्मीर में पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित अलगाववाद के कारण भारत के लिए नई सामरिक चुनौतियां प्रकट हो रही थीं। श्रीलंका में लिट्टे की ईलम की मांग को तमिलनाडु के द्रविड़ राजनैतिक दलों का समर्थन प्राप्त था। इन सभी कारणों से भारत की नजर दक्षिण एशिया तक ही सिमटी रह गई। पुनः दक्षिण पूर्व एशिया की तरफ देखने का काम कई साल बाद 1990 के दशक में नरसिंह राव

के कार्यकाल में तब ही आरंभ हो सका जब उन्होंने 'लुक ईस्ट' का नारा गढ़ा। यहां इस बात की याद दिलाना परमावश्यक है कि पूरब में दक्षिण पूर्व एशिया के साथ सुदूर पूर्व भी शामिल है-चीन, जापान, कोरिया। जाहिर है एक साथ रखने पर दक्षिण पूर्व एशिया तराजू के पलड़े में हल्का पड़ जाता है।

बर्मा (म्यांमार) हो या फिर थाईलैंड, लाओस, कंबोडिया और इंडोनेशिया इनकी सांस्कृतिक पहचान भारतीय सभ्यता के सांचे में ढली है। हिंदू बौद्ध इस्लामी तत्व इन्हें भारत के लिए आत्मीय बनाते हैं। इनके अलावा मलेशिया, सिंगापुर अंग्रेजी राज और राष्ट्रकुल की सदस्यता की वजह से विएतनाम या फिलिपीन्स की तुलना में हमारे निकट हैं। पर यह नतीजा निकालने की जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए कि इन सभी के साथ हमारे रिश्ते तनाव रहित रहे हैं।

भारत की अर्थव्यवस्था की कमजोरी, सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार, धीमी विकास दर की वजह से सिंगापुर जैसे नन्हे देश के नेता भारत को नसीहत देने लगे। तेल की कमाई से मालामाल मलेशिया, इंडोनेशिया, बर्नेई विकसित देशों के करीब पहुंच गए और विकासशील भारत को पिछड़ा समझ उससे दूरी बनाने लगे। कभी तकनीकी कौशल, शिक्षा के क्षेत्र में भारत की तरफ देखने वाले ऑस्ट्रेलिया तथा जापान का रुख करने लगे। निश्चय ही यह अदूरदर्शिता थी, क्योंकि उनका चमत्कारी आर्थिक विकास परावलंबी था, आत्मनिर्भर नहीं और स्वयं उनके सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार, सांप्रदायिक असहिष्णुता तथा अजनतांत्रिक उत्पीड़न का अभाव नहीं था। मलेशिया में बहुसंख्यक पर पिछड़े 'भूमिपुत्र' मलयवंशी विशेषाधिकार संपन्न हैं, जबकि चीनी तथा भारतवंशी नागरिक दायम दर्जे के उत्पीड़ित बनते गए। मुसलमान मलय पूर्वी मलेशिया के आदिवासी भूमिपुत्रों को अपने समकक्ष नहीं मानते। 1970 से अब तक निरंतर मलेशियाई राजनीति का इस्लामीकरण होता रहा है और कट्टरपंथी के प्रसार के कारण जनतांत्रिक राजनीति का क्षय साफ नजर आता है। इस कारण भारत के साथ पारंपरिक मैत्री और सहकार पूर्ववत् नहीं संचालित हो सकते।

13वीं सदी से ही चीनी नौसैनिक अभियानों द्वारा दक्षिण-पूर्व एशिया में शक्ति प्रदर्शन करते रहे हैं। अनेक देशों में चीनी मूल के नागरिक बड़ी संख्या में रहते हैं और आर्थिक जीवन में पारंपरिक रूप से प्रभावशाली रहे हैं। इसलिए लेखक का यह कहना अटपटा लगता है कि ड्रैगन ने दरवाजे पर दस्तक देना हाल ही में शुरू किया है, यह वह इसी समय प्रकट हो रहा है।

लेखक ने अपने जीवन के लगभग चालीस वर्ष इस भूभाग में बिताए हैं। अनेक देशों में छात्र, पत्रकार या अंतर्राष्ट्रीय संगठन के पर्यवेक्षक के रूप में उसने काम किया है। यहां बोली जानी वाली तीन चार भाषाओं का वह जानकार है, अतः उसकी दक्षिण-पूर्व एशिया की समझ निश्चय ही अद्वितीय समझी जा सकती है। विडंबना यह है कि इस सबके बावजूद उसका नजरिया एशियाई नहीं, पश्चिमी ही बरकरार रहा है। जनतंत्र और मानवाधिकारों की जिस कसौटी पर कसकर वह किसी देश या नेता की सफलता का परीक्षण करता है, वह यूरोप के गोरे ईसाई देशों की 'उपलब्धियों' को 'आदर्श मानक' स्वीकार करता है। यूरोपीय सांप्रदायिक विस्तार से पहले के ऐतिहासिक अनुभवों की अनदेखी से कुछ निष्कर्ष गड़बड़ा जाते हैं। मसलन चीन तथा विएतनाम के संबंध पारंपरिक रूप से तनावग्रस्त और शत्रुवत् रहे हैं। इसी कारण मात्र शीत युद्ध के काल में साम्यवादी बिरादरी की सदस्यता से उपजा भ्रातृभाव देर तक नहीं चल सका और सैनिक मुठभेड़ का माहौल बन गया। सागर के गर्भ में तेल गैस संसाधनों को लेकर प्रतिद्वंद्विता का शांतिपूर्ण समाधान इसी कारण आसान नहीं।

लेखक इस बात को भी यथोचित महत्व नहीं देता कि दक्षिण पूर्व एशिया सदा से भारतीय और चीनी सांस्कृतिक प्रभाव वाले देशों के बीच बंटा रहा है-म्यांमार, मलेशिया, थाइलैंड, कंबोडिया, इंडोनेशिया, ब्रुनेई पर गहरी भारतीय छाप साफ दिखलाई देती है, जबकि विएतनाम बौद्ध धर्मावलंबी होने के बावजूद चीन के करीब नजर आते हैं। फिलिपीन्स की आबादी मलयवंशी होने के बावजूद हिस्पानी उपनिवेश होने की वजह से शेष दक्षिण-पूर्व एशियाई पड़ोसियों से अलग-थलग रहा है। मलय जगत से उसका

संपर्क उत्तरी कालिमांतान के साबा भूभाग तक सीमित रहे हैं। धुर दक्षिण में होलो की इस्लामी सल्तनत की नींव खूंखार समुद्री तस्करों ने डाली थी और यहां इसी कारण इस्लामी कट्टरपंथी के प्रसार ने हिंसक बगावत को फैलाने में मदद की है।

अतीत में संस्कृति और धर्म का प्रसार साथ-साथ होता रहा है। हिंदू और बौद्ध धर्म को मानने वाले व्यापारियों पुरोहितों ने भाषा, कला, राजनैतिक प्रणाली को प्रभावित किया। बाद में जब इस्लाम का आगमन हुआ तो आबादी का धर्मान्तरण तो हुआ, पर यह बुनियाद बरकरार रही। यूरोपीय उपनिवेशवाद ने स्थानीय अर्थव्यवस्था और शासन प्रणाली को अपने सांचे में ढाला, पर तब भी इस ऐतिहासिक पहचान पर आधुनिकता का मुलम्मा ही चढ़ाया जा सका। इस बात को नजरंदाज नहीं किया जाना चाहिए कि पिछले दशकों में सऊदी अरब से निर्यातित इस्लाम की आक्रामक वहाबी धारा ने इस समावेशी साझा विरासत का क्षय किया है। म्यांमार में बौद्धों और रोहिंगिया मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक संघर्ष तथा दक्षिणी थाइलैंड और मलेशिया की सरहद पर बढ़ता तनाव भी इसी कारण है। सबसे अधिक गंभीर संकट इंडोनेशिया में उत्पन्न हुआ है, जहां मुख्यतः जावा की समन्वयात्मक जीवन शैली क्रमशः असहिष्णु होती जा रही है। चीनी मूल के जकार्ता के मेयर को पद त्याग के लिए विवश करना इसी को प्रमाणित करता है। पाकिस्तान के विखंडन के बाद बांग्लादेश का उदय इस बात को दर्शा चुका है कि एकमात्र धर्म राष्ट्रराज्य की एकता अखंडता की रक्षा नहीं कर सकता। आज इंडोनेशिया तथा मलेशिया के लिए यह समझना परमावश्यक है कि क्षेत्रीय वैभिन्य और जनजातीय बहुलता जनित ऐतिहासिक अंतर को धार्मिक कट्टरता बलपूर्वक समाप्त नहीं कर सकती और न ही इसके माध्यम से आर्थिक विकास या सामाजिक विषमता की समस्या पर काबू पाया जा सकता है।

इन बातों की ओर ध्यान दिलाया जाना इसलिए जरूरी है क्योंकि दक्षिण-पूर्व एशिया क्षेत्र में आंतरिक विभाजन को समझा जा सके। यह इलाका सदियों से न केवल नस्ली आधार पर वरन् सांस्कृतिक विरासत के कारण

भी बंटा है। उदाहरणतः इंडोनेशिया और कंबोडिया-थाइलैंड सांस्कृतिक दृष्टि से भारत से जुड़े हैं, पर यह रिश्ता इनको आपस में नहीं जोड़ता। खमेर अपने आप को लाओस वंशज मलयों से भिन्न मानते हैं। शीत युद्ध के दौर में भले ही कंबोडिया लाओस इंडोनेशिया गुटनिरपेक्ष आंदोलन में शामिल हुए, लेकिन हाल ही के वर्षों में इंडोनेशिया के अमेरिकी पाले में जाने के बाद से इस संबंध का भी अवमूल्यन हुआ है। यही कारण है दक्षिण पूर्व एशिया के सभी देशों को एक सूत्र में बांधने वाले किसी संगठन को मनोवांछित सफलता नहीं मिल सकी है। आसियान मूलतः चीन समर्थित साम्यवादी (विएतनाम सरीखे) देशों के विरुद्ध मलय वंशज देशों को संगठित करने का ही प्रयास था। इसकी प्रेरणा अमेरिकी थी, जिसने विएतनाम से अमेरिकी सेना की वापसी के बाद अपने हितों की हिफाजत के लिए इसकी रूपरेखा तैयार की थी। इसे विडंबना ही कहा जा सकता है, आज सभी दक्षिण-पूर्व एशियाई देश इसके सदस्य हैं।

पुस्तक बहुत सारी उपयोगी जानकारी जुटा कर पाठक के सामने रखती है, पर अकसर ब्यौरे मुख्य मुद्दे से हमारा ध्यान भटकाते हैं। व्यक्तिगत बातचीत से प्राप्त जानकारी को तटस्थ या तथ्यों पर आधारित नहीं समझा जा सकता। जहां लेखक चीनी ड्रैगन की उपस्थिति का विश्लेषण तो करता है वहीं भारत का उल्लेख नाममात्र को भी नहीं। न ही इस क्षेत्र में जापान, ऑस्ट्रेलिया के सामरिक हितों का जिक्र है। मानवाधिकार और जनतंत्र को प्राथमिकता देना समझ में आता है, पर इनकी पश्चिमी परिभाषा एशिया में सर्वस्वीकृत नहीं। एशियाई राजनयिक महबूबानी किशोर इनके संदर्भ में पारंपरिक एशियाई मूल्यों के बाबत विचारोत्तेजक टिप्पणी कर चुके हैं। हमारी समझ में इस पुस्तक की जानकारी को ग्रहण करते वक्त पाठकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। भारत किस तरह दक्षिण-पूर्व एशिया के घटनाक्रम से प्रभावित हो सकता है, इसके बारे में तटस्थता से ही नहीं निर्ममता से सोचने की जरूरत है। पौराणिक-मिथकीय विरासत की साझेदारी के बोझ से मुक्त होकर यह भूभाग एकता से नहीं, आंतरिक विभाजनों से ही परिभाषित किया जा सकता है। □□



इंदिरा गांधी : ए लाइफ इन नेचर

लेखक : जयराम रमेश

इंदिरा : इंडियाज मोस्ट पॉवरफुल प्राइम मिनिस्टर

लेखक : सागरिका घोष

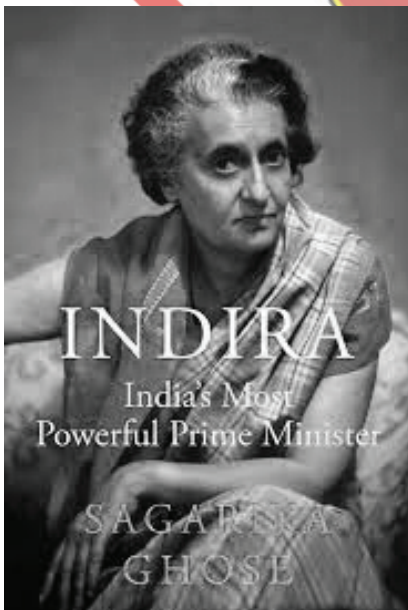
मणिकांत सिंह

इंदिरा गांधी का राजनैतिक जीवन आधुनिक भारत के इतिहास का संभवतः सबसे महत्वपूर्ण अध्याय है। जब शास्त्रीजी के देहांत के बाद उन्होंने प्रधानमंत्री के रूप में काम करना शुरू किया तो देश गहरे आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा था। खाद्यान्न के लिए हम अमेरिका पर निर्भर थे और 1965 में पाकिस्तान के साथ युद्ध के बाद संपन्न ताशकंद समझौते के कारण नए राजनयिक समीकरण बन रहे थे। इंदिरा गांधी को अपना नेता मानने के लिए बुजुर्ग कांग्रेसी नेता तैयार नहीं थे तो प्रगतिशील तबके के युवा तुर्कों को लगता था कि नेहरू की समाजवादी-धर्मनिरपेक्ष-वैज्ञानिक सोच

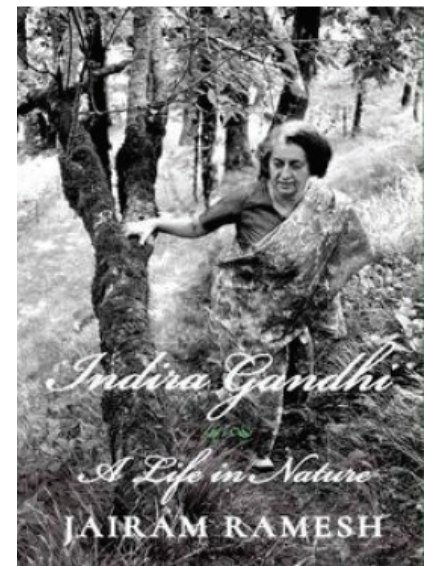
वाली विरासत को अक्षत रखने के लिए इंदिरा गांधी को ही सही उत्तराधिकारी समझा जा सकता है। ऐसे लोगों की भी कमी न थी जिनका मानना था कि अनुभवहीन इंदिरा की ताजपोशी कर उन्हें कठपुतली की भांति नचाया जा सकेगा। प्रधानमंत्री के पद पर बैठने के बाद इंदिरा गांधी के आरंभ के तीन वर्ष कांग्रेस पार्टी के भीतर कलह को शांत कर अपना एकछत्र नेतृत्व स्थापित करने में बीते। अंततः कांग्रेस विभाजित हुई, वीवी गिरि के राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित होने के बाद ही 'बूढ़ों की पुरातनपंथी' कांग्रेस के विरोध से उन्हें छुटकारा मिला। अपने को प्रगतिशील साबित करने के लिए इसके पहले ही वह कुछ नाटकीय अप्रत्याशित कदम ले चुकी थीं—मुसलमन बैंक राष्ट्रीयकरण और रियासतों-रजवाड़ों का उन्मूलन। लोकलुभावन नीतियों के ऐलान से गरीबों की रहनुमाई की यह दावेदारी वह जीवनपर्यंत करती रहीं।

उठाए, परंतु 1973 तक यह रफ्तार धीमी पड़ने लगी थी। मंहगाई बढ़ रही थी और सामाजिक असंतोष भी। यह आरोप भी सर उठाने लगा था कि श्रीमती गांधी के छोटे पुत्र संजय की मारुति फैंक्टरी को लाभ पहुंचाने के लिए बड़े पैमाने पर सरकारी भ्रष्टाचार हुआ है। नक्सली अतिवामपंथी विद्रोह पर अभी काबू पाया ही जा सका था कि सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में गुजरात और बिहार से नवनिर्माण आंदोलन आरंभ हो गया।

इसी समय जब इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने राजनारायण की चुनाव याचिका को स्वीकार कर इंदिरा गांधी को अपदस्थ कर दिया तो बौखला कर दरबारी सलाहकारों



इस बात को नकारना कठिन है कि 1969-74 तक के पांच वर्षों में इंदिरा के नेतृत्व का असर सर्वमुखी प्रगति में देखने को मिला। हरित क्रांति का सूत्रपात हुआ, भारत खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्म निर्भर बना, पोखरण में पहला शांतिपूर्ण आणविक परीक्षण हुआ, बांग्लादेश मुक्ति संघर्ष में भारत ने निर्णायक सैनिक भूमिका निभाई और अंतरिक्ष अन्वेषण से लेकर अंटार्कटिक की पड़ताल तक में भारत ने सार्थक कदम



की राय मानकर आपातकाल लागू करने की घोषणा कर दी। इसके साथ ही शुरू हुआ संजय गांधी की असंवैधानिक तुनुकमिजाज तानाशाही का वह दौर, जिसे भारतीय जनतंत्र का सबसे अंधकारमय दौर माना जाता है।

दो वर्ष बाद चुनावों की घोषणा कर इंदिरा गांधी ने सबको चकित कर दिया। इस बात का निर्णय आज तक करने में विश्लेषक असमर्थ हैं कि क्या वह वास्तव में जनतांत्रिक थी? अपनी अंतरात्मा के शूल ने उन्हें यह फैसला लेने को बाध्य किया था या फिर वह समय रहते जनादेश की मुहर अपनी कुनबा परस्त तानाशाही पर लगाना चाहती थी? बहरहाल चुनावों में उन्हें करारी हार का मुंह देखना पड़ा और उत्तर भारत में कांग्रेस का सफाया हो गया। विडंबना यह है कि जनता पार्टी की जो सरकार बनी उसने इंदिरा को कटघरे में खड़ा तो किया, परंतु सजा दिलाने में असमर्थ रही। आंतरिक झगड़ों के कारण इसका पतन हो गया और इंदिरा की चुनावी जीत के बाद शानदार वा. पसी हुई। सत्ता से बाहर उन्होंने शहादत का जामा पहना और दलितों तथा अल्पसंख्यकों की रहनुमाई का नारा बुलंद किया। प्रथम मंत्री के रूप में इंदिरा गांधी का दूसरा कार्यकाल पहले से बहुत भिन्न था। पंजाब तथा जम्मू कश्मीर राज्य में अलगाववादी दहशतगर्दी सर उठा रही थी। आपातकाल के घावों पर मलहम लगाना आसान था, पर जनता सरकार की नीतियों से हुए नुकसान की भरपाई कठिन थी। मोरारजी का नशाबंदी का हठ संजय के नसबंदी अभियान जैसा था। चरणसिंह और देबीलाल का किसान-देहात प्रेम सुचिंतित गांधीवादी विकल्प नहीं, वरन् जातिवादी पूर्वाग्रस्त था।

विमान दुर्घटना में संजय की मृत्यु के बाद इंदिरा अकेली पड़ गई। छोटी पुत्रवधू मेनिका के साथ कलह और उसके घर से निकल जाने के बाद उन्होंने बड़े पुत्र राजीव को अपना सलाहकार-सहयोगी बनाया। राजीव की कार्यशैली और स्वभाव संजय से बहुत अलग थे, तथापि इस फैसले ने यह संकेत दिया कि इंदिरा अपने दल

के किसी नेता की अपेक्षा किसी घरवाले पर ही भरोसा करती थीं। बहरहाल पंजाब में हालात लगातार बिगड़ते चले गए और अंततः स्वर्ण मंदिर के परिसर में सेना को भेजना पड़ा। इस अभियान को ऑपरेशन ब्लूस्टार नाम दिया गया। इससे मंदिर से दहशतगर्द तो निकाले जा सके पर सिक्ख समुदाय में भयंकर असंतोष फैला। इसी का नतीजा यह हुआ कि कुछ समय बाद इंदिरा गांधी की हत्या उन्हीं के सिक्ख अंगरक्षकों ने कर डाली।

इंदिरा गांधी के जीवन की यह प्रमुख घटनाएं सर्वविदित हैं और अपने-अपने नजरिए से हम लोग इस पात्र की भूमिका का मूल्यांकन करते आए हैं। कोई उन्हें बलिदानी देशप्रेमी समझता है तो कोई कुनबापरस्त तानाशाह। इंदिरा की अनेक जीवनियां प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें उनके जीवन काल में ही छप चुकी 'जरीर मसानी' की पुस्तक मशहूर है। स्वयं इंदिरा का मानना था कि लेखक उनके खिलाफ पूर्वाग्रह ग्रस्त था। लंबे समय तक उनकी मित्र रहीं सांस्कृतिक कार्यकर्ता 'पुपुल जयकर' ने जो जीवनी लिखी है वह सहानुभूति के बावजूद आपातकाल की गलतियों को तथा इंदिरा के पुत्रमोह को नजरंदाज नहीं करती। सबसे प्रमाणिक और पठनीय इंदिरा के पति फिरोज गांधी के मित्र वरिष्ठ पत्रकार इंदर मल्होत्रा द्वारा लिखी इंदिरा की राजनैतिक जीवनी है। यह उनके बचपन से देहांत तक का दिलचस्प, कमोबेश तटस्थ बखान है।

इंदिरा की जीवनियों के अलावा हाल के वर्षों में उनके अनेक सहयोगियों, वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों, राजनेताओं तथा देश-विदेशी राजनयिकों ने अपनी आत्मकथाएं, संस्मरण प्रकाशित कराए हैं, जिनसे इंदिरा के व्यक्तित्व और कार्यशैली पर प्रकाश पड़ता है। इनमें नटवर सिंह, पीसी अलेक्जेंडर, आर वेंकटरमन, बीके नेहरू प्रमुख हैं। फिरोज गांधी की एक जीवनी भी हाल ही में भारत पहुंची है। अब सवाल यह उठता है कि इतनी सारी सामग्री सुलभ होते हुए इंदिरा

की एक और जीवनी लिखने के क्या जरूरत है? जिन दो पुस्तकों की समीक्षा यहां की जा रही है, उनके बारे में यह सवाल पूछा जाना और भी जरूरी हो जाता है, "इसी समय क्यों?"

यह वर्ष भारत की आजादी की 70वीं सालगिरह के साथ-साथ इंदिरा गांधी की जन्म शताब्दी का वर्ष भी है। यदि इस समय कांग्रेस सत्तारूढ़ होती तो यह जश्न काफी जोशोखरोश के साथ मनाया जाता और नेहरू की विरासत को धुनाने का भरपूर प्रयास होता। इसके साथ-साथ शायद यह भी याद रखने की जरूरत है कि इंदिरा गांधी की हत्या को भी तीन दशक से अधिक समय बीत चुका है। आपातकाल तो बहुत दूर की बात है, 1984 में भड़के सिख विप्लोधी वंशनाशक नरसंहार की दुखद यादें भी धुंधला चुकी हैं। इनका स्मरण तभी किया जाता है जब नरेन्द्र मोदी तथा भाजपा को कटघरे में खड़ा करने के लिए गोधरा (गुजरात) का जिक्र होता है।

पहली समीक्षित पुस्तक का उपशीर्षक है, 'भारत की सबसे शक्तिशाली प्रधानमंत्री' जाहिर है कि लेखिका का प्रयास इस वक्त सत्तारूढ़ ताकतवर प्रधानमंत्री से इस करिश्माई नेता की तुलना करने का है जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भाजपा के बाजपेयी ने एक बार की थी और दुर्गा के रूप में उनका विरुद्ध गायन किया था।

सागरिका घोष जिस पीढ़ी की हैं, उसने भले ही स्कूल की छात्रा के रूप में इंदिरा के दर्शन किए हों, उनसे प्रेरणा ली हो, लेकिन भारत की अधिकांश आबादी के लिए वह सिर्फ इतिहास के पन्नों में बयान एक आख्यान हैं। सोनिया गांधी तथा जरा ही कम राहुल व प्रियंका गांधी के महिमामंडन ने इंदिरा की उपलब्धियों तथा अभिशापों को जनमानस से बिसरा दिया है। आज जब भाजपा और मोदी पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह भारत की उस अवधारणा को नष्ट कर रहे हैं जो नेहरू के समतापूर्ण भारत के सपने से अभिन्न रूप

से जुड़ी है, तब इंदिरा के आपातकालीन आचरण और वंशवादी कार्यशैली की याद एनडीए वाले जबाब में दिलाते हैं। चूँकि जानकारियाँ दुर्लभ हैं और युवा पीढ़ी के लिए अपने विवेक के अनुसार किसी नतीजे पर पहुँचना कठिन रहा है। निश्चय ही आम पाठक के लिए प्रामाणिक स्रोतों पर आधारित सहज-सरस जीवनी की जरूरत आज भी है। यही काम करने का बीड़ा सागरिका घोष ने उठाया है। वह बेहिचक यह स्वीकार करती हैं कि मौलिक शोध जैसा काम उन्हा-ने नहीं किया। पूर्व प्रकाशित पुस्तकों की सामग्री का ही दोहन किया है और अपने पत्रकारिता के अनुभव के आलोक में अपनी राय बनाई है। लेखिका की सदाशयता का पूरा सम्मान करते हुए यह कहने की जरूरत है कि यह पराई बछिया का अभियान ही है। जिन पुस्तकों को सागरिका ने आधार बनाया है वह अप्राप्य या दुर्लभ नहीं। राम गुहा की 'गांधी के बाद का भारत' जैसी रचनाओं का तो हिंदी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। यह भी जोड़ने की जरूरत है कि स्वयं सागरिका खुद को उस उदार-जनतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष तबके का प्रतिनिधि समझती हैं, जिसका मानना है कि नेहरू की भारत की अवधारणा ही शाश्वत सनातन सत्य है और वर्तमान सरकार से इसकी जान को जोखिम है। तटस्थता के निर्वाह के लिए प्रतीकात्मक रूप से इंदिरा के गलत फैसलों की आलोचना नाममात्र को तो दर्ज कराई गई है, पर इनके संवैधानिक संस्थाओं पर दुष्प्रभाव या संसदीय परंपराओं के क्षय का परीक्षण करने से लगातार कतराया गया है। कुल मिलाकर यह किताब मनोरंजक किस्सागोई तक सीमित रह जाती है।

जयराम रमेश की पुस्तक कहीं अधिक उपयोगी अंतर्दृष्टियों से भरी है। भले ही लेखक यह स्वीकार करता है कि यह एकपक्षीय जीवनी है। इसे पढ़ते इंदिरा गांधी के निजी जीवन के सरोकार-लगाव अपने आप उजागर होते हैं। उनकी संसदीय कार्य प्रणाली तथा नौकरशाही के साथ

नीतिनिर्देशक आदेशों के बारे में बहुत कुछ जानने को मिलता है।

जयराम रमेश सागरिका की तुलना में कहीं अधिक गंभीर और अकादमिक रुझान के लेखक हैं, वह पत्रकार के रूप में काम कर चुके हैं साथ ही आईआईटी मुंबई से स्नातक बनने के बाद उन्होंने अमेरिका में शोध संपन्न किया। उनकी दिलचस्पी का विषय आर्थिक विकास और सार्वजनिक नीतियाँ हैं। वह राजीव गांधी और नरसिंह राव के सलाहकार के रूप में काम कर चुके हैं और योजना आयोग में भी। राज्य सभा के सदस्य रहने के अलावा वह पर्यावरण मंत्री की जिम्मेदारी भी बखूबी निबाह चुके हैं। प्रशासनिक पारदर्शिता तथा जबाबदेही के उत्कृष्ट प्रतिमान जयराम ने अपने कार्यकाल में स्थापित किए। उन्हें नंबर 10 जनपथ का स्वामिभक्त अनुचर कहा जाता है और निश्चय ही उनसे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह ऐसा कुछ कहेंगे जो उनकी पार्टी के वर्तमान नेतृत्व को नुकसान पहुंचा सकता है। यह संतोष का विषय है कि इस पुस्तक के कारण उन पर दलगत या पारिवारिक पक्षधरता का आरोप नहीं लगाया जा सकता।

पुस्तक की बनावट अनोखी है। अधिकांश हिस्सा श्रीमती इंदिरा गांधी के अपने शब्दों में है-उनके पत्रों, भूमिकाओं तथा भाषणों के उद्धरणों पर आधारित। इनके अलावा दफ्तर में रोजमर्रा के कामकाज को निपटाने के लिए जो नोट-पुर्जियाँ, फर्रि आदि काम लाए जाते हैं उन्हें बहुत श्रम से संकलित किया गया है। शोधकर्ता का पूरा अनुशासन निबाहते जयराम ने सरकारी स्रोतों के अलावा आत्मीय मित्रों के साथ व्यक्तिगत पत्राचार से मिली जानकारी का भी पूरा लाभ उठाया है। पर्यावरण विषयक जिन अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ इंदिरा का पत्राचार होता था उनके स्रोतों का उपयोग स्वदेश में प्राप्त आधी अधूरी जानकारी को पूरा करने में हुआ है। पुराने फोटोग्राफ, पत्रों की नकल सभी इस प्रस्तुतीकरण को आकर्षक बनाते हैं।

पुस्तक वर्षों के प्रवाह के साथ इंदिरा के

प्रकृति के साथ रिश्ते घनिष्ठ होते गए। पिता ने सायास जिस प्रकृति प्रेम का बीजारोपण किया था वह पल्लवित हुआ, तरुणाई में शांतिनिकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के सानिध्य में। बाद में वैवाहिक जीवन के अकेलेपन को दूर करने के लिए जिस एकांत को इंदिरा ने चुना उसमें पशु-पक्षी पेड़-पौधे आत्मीय सखा-बंधु बने। पिता के साथ देश विदेश की यात्रा में इंदिरा ने प्रकृति और पर्यावरण विषयक अपना ज्ञान असाधारण रूप से बढ़ाया। पर यहां यह गौण है कि उन्हें प्रकृति से कितना लगाव था। जो बात जयराम ने बखूबी उद्घाटित की है, वह फर्क है और कहीं अधिक महत्पूर्ण है- पर्यावरण विषयक नीति निर्धारण वह कैसे करती थी? क्या इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि अन्य विषयों में भी इसी कार्यशैली का अनुसरण होता था? सबसे बड़ी बात यह है कि पर्यावरण या किसी दूसरे विषय पर नीति निर्धारण, परिवर्तन अथवा निर्णायक फैसला लेने की तत्कालीन प्रणाली क्या थी? क्या दलगत चुनावी हित मद्देनजर रहते थे या जनसाधारण की जीविका से जुड़े सरोकार? स्टोकहोम सम्मेलन में इंदिरा गांधी ने बड़े दूरदर्शी तरीके से गरीबी तथा प्रदूषण के उलझे संबंध को स्पष्ट किया था और पर्यावरणीय संरक्षण तथा आर्थिक विकास को एक दूसरे का पूरक बताया था, विरोधी नहीं। पर जब भारत में बड़े बांधों के विरुद्ध जनान्दोलन आरंभ हुए-टेहरी से लेकर नर्मदा घाटी तथा केरल की साइलेंट वैली तक उनके राजनैतिक प्रभाव की अनदेखी कोई नहीं कर सकता था। भारत की संघीय व्यवस्था में पर्यावरण संरक्षण के कारण अंतर्राज्य विवादों के कारण भी केन्द्र सरकार असमंजस में पड़ती रही है। विभिन्न केन्द्रीय मंत्रालयों के 'हित' भी टकराते रहे हैं। इनको संतुलित करना विकट चुनौती है।

जयराम ने इस बात को सप्रमाण पुष्ट किया है कि कम से कम पर्यावरण के संरक्षण के संदर्भ में इंदिरा अपना प्रकृति प्रेम किसी पर थोपती नहीं थीं। पर्यावरण के संरक्षण के लिए उनकी

प्रतिबद्धता जनसाधारण की जीविका के बुनियादी सरोकारों से जुड़ी थी। तमाम जरूरी जानकारियां हासिल करने के लिए वह सरकारी तथा गैर सरकारी स्रोतों का उपयोग करती थीं। उनकी मित्रमंडली में अनेक ऐसे थे जिनकी गहरी दिलचस्पी और विशेषज्ञता पशुपक्षियों पेड़ पौधों में थी। यह आलोचना जायज नहीं कि इनमें अधिकांश राजा रजवाड़े या उनके वंशज थे और जंगल के राजा बाघ को बचाने की प्राथमिकता ने बनवासियों के पारंपरिक अधिकारों का हनन किया। मोर को राष्ट्रीय पक्षी घोषित करना हो या अभ्यारण्यों की स्थापना इनका मकसद भारत के नागरिकों को उनकी अनमोल प्राकृतिक संपदा के प्रति जागरूक बनाना था। आज जब जैव विविधता का संकट हमारे सामने मुंह बाए खड़ा है और मौसम बदलाव अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में गंभीर मतभेदों को जन्म दे रहा है, तब यह बात समझना आसान है कि इंदिरा गांधी की पर्यावरण-संरक्षण को लेकर चिंताएं कितनी व्यवहारिक तथा दूरदर्शी थीं। जिन-जिन प्रसंगों का वर्णन यहां किया गया है, उनसे यही पता लगता है कि इंदिरा गांधी सलाह मशवरे के बाद ही किसी नतीजे पर पहुंचती थीं। सभी पक्षों से उनके हितों के बारे में पूछताछ करती थीं। वह विशेषज्ञ वैज्ञानिकों की राय का आदर करती थीं और उनके अनुभव का लाभ परामर्श से उठाती थी, परंतु प्रयोगशाला या शोध पत्रों को ही सब कुछ नहीं मानती थीं। यही कारण था कि जहूर कासिम, टइएन खूशू, सालिम अली और माधव गाडगिल के साथ-साथ वह सुंदरलाल बहुगुणा, चंडीप्रसाद भट्ट से भी संवाद बनाए रखती थीं।

असली समस्या तब सामने आती थी, जब किसी कांग्रेस शासित राज्य का मुख्यमंत्री ही बाधा बन जाता था या किसी वरिष्ठ केन्द्रीय मंत्री की सहमति प्राप्त करना कठिन हो जाता था। जयराम ने दो तीन ऐसे उदाहरण पेश किए हैं, जिनसे पता चलता है कि करण सिंह सरीखे मित्र, अर्जुन सिंह जैसे आज्ञापालक अनुयाई ने उनके निर्देशों

को जो सलाह के रूप में पत्र के माध्यम से भेजा गया था, अन्देखा किया। इंदिरा आसानी से कुछ भूलती नहीं थीं। वह अधूरे काम को पूरा करने की याद दिलाती रहती थीं। कभी वह कामयाब रहतीं और कभी सहयोगियों की बात मानने को मजबूर होती और अपना फ़ैसला बदल देतीं। ओडिसा की चिलिका झील के निकट नौसैनिक अकादमी की स्थापना का विषय ऐसा ही था। तत्कालीन रक्षा मंत्री ही नहीं नौसेना भी इसके लिए डटी थी। पर्यावरण की संवेदनशीलता और सामरिक संवेदनशीलता की यह रस्साकशी अंततः नौसेना की जीत के रूप में तय हुई। देहरादून के निकट मसूरी की पहाड़ियों में अवैध खनन का मुद्दा पर्यावरण के संरक्षकों के हित में तय हुआ। टेहरी और नर्मदा आंदोलन का समाधान इंदिरा के जीवन काल में नहीं हासिल हो सका।

जयराम को इस बात का श्रेय देना चाहिए कि उन्होंने कहीं भी अपनी समझ में इंदिरा के 'गलत' फ़ैसलों की लीपापोती नहीं की है और न ही यह दर्शाने का प्रयास किया है कि नीति निर्धारण या परिवर्तन के लिए कोई अन्य जिम्मेदार था। इंदिरा गांधी के कार्यकाल में विदेश नीति तथा रक्षा नीति विषयक नीति निर्धारण का अध्ययन देशी विदेशी विद्वानों ने विस्तार से किया है। पीएन धर तथा अन्य राजनेताओं की जीवनियों संस्मरणों में किया जा चुका है। इनमें पीसी अलेक्जेंडर, माखनलाल फोतेदार, पीवी नरसिंह राव प्रमुख हैं। रसगोत्रा तथा शिवशंकर मैनन भारतीय विदेश सेवा के पुरखों और वर्तमान नौजवान पीढ़ी के बीच सेतु का काम करते हैं। 1979 के पराक्रम के बाद इंदिरा 1962 की प्रेत बाधा से मुक्त हो चुकी थीं। उनकी अपनी आपातकाल से पहले की उपलब्धियां उनके आलोचकों को चुप कराने के लिए काफी थीं। वह प्रमाणित कर चुकी थीं कि वह गूंगी गुड़िया नहीं थीं। आपातकाल के लिए उनकी व्यक्तिगत जिम्मेदारी से उन्हें बाइज्जत रिहा नहीं किया जा सकता और न ही संजय के प्रति अंधे पुत्रमोह से, इसकी भी यथेष्ट

पड़ताल हो चुकी है। उमा वासुदेव की 'टू फेसेज ऑफ इंदिरा गांधी' और विनोद मेहता की 'दि संजय स्टोरी' के अलावा कुलदीप नैय्यर जैसे पत्रकारों की रचनाओं ने इस दुर्भाग्यपूर्ण प्रकरण का अध्ययन किया है। प्रस्तुत पुस्तक के संदर्भ में इस सवाल को हाशिए पर नहीं धकेला जा सकता कि क्या इंदिरा जैसी शख्सियत की एकायामी या एकपक्षीय जीवनी लिखी जा सकती है? दूसरी ओर क्यों हम जयराम जैसे विशेषज्ञ से यह अपेक्षा करें कि वह अपनी खास जानकारी और रुचि के विषय के दायरे से बाहर निकल अप्रमाणिक निष्कर्ष पाठक के सामने पेश करेगा?

इस समीक्षक की राय में यह पुस्तक निश्चय ही पठनीय है और हमें यह सुझाने का अवसर देती है कि क्यों अन्य मंत्रालयों विभागों में इंदिरा गांधी और राजीव के साथ काम कर चुके सहयोगी मंत्री, नौकरशाह अपनी व्यक्तिगत जानकारी और विशेषज्ञता के आधार पर इन नेताओं के योगदान पर नीति निर्धारण में निरंतरता और परिवर्तन पर प्रकाश नहीं डालते?

यह सर्वविदित है कि भारत में सरकारी फाइलें अतिशय गोपनीयता की चादर ओढ़े रहती हैं और सार्वजनिक जीवन में सक्रिय हस्तियों के पत्राचार आदि भी हर शोधकर्ता को सुलभ नहीं। इसीलिए जानकारी जुटाने के अप्रत्क्ष पर प्रमाणिक स्रोत तलाशने पड़ते हैं। तमिल/कन्नड़ और अंग्रेजी भाषी जयराम का अमर उजाला जैसे हिंदी अखबारों के समाचारों से किसी जानकारी की पुष्टि इसी मौलिक सूझ-बूझ का उदाहरण है।

पुस्तक सरस शैली में लिखी गई है और एक साथ जीवनी और (इंदिरा की) डायरी पढ़ने का आनंद देती है। इसकी तुलना में सागरिका घोष की रचना कहीं हल्की ठहरती है।

□□